रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म.प्र.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर
★ १९९६ ★

प्रबन्ध संपादक तथा व्यवस्थापक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक २०/- | वर्ष ३४ अंक ४ | एक प्रति ६/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ३०० /-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म.प्र.)
दूरभाष : २५२६९, २४९५९, २४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(१०९ वीं तालिका)

३९६६. श्री तेज सिंह महस्के, रायपुर (म.प्र.)
३९६७. श्री गोपाल मन्दिर वाचनालय, झाबुआ (म.प्र.)
३९६८. श्री जसबीर कौर आहुजा, पटियाला (पंजाब)
३९६९. श्री डॉ. शशांक सूभेदार, नागपुर (महा.)
३९७०. श्री राजमणि पाण्डेय, नरसिंहपुर (म.प्र.)
३९७१. श्री गुलशन कपूर, बैतुल (म.प्र.)
३९७२. श्री डॉ. मानस विश्वास, दतिया (म.प्र.)
३९७३. श्री चन्द्रकान्त अनन्त कुमार जैन, भैसदही, बैतुल (म.प्र.)
३९७४. श्री चन्द्रशेखर त्रिपाठी, बैतुल (म.प्र.)
३९७५. श्री नारायण चढोकार, बैतुल (म.प्र.)
३९७६. श्री इन्दर चन्द जैन, बैतुल (म.प्र.)
३९७७. श्री नीलकण्ठ राव कनाठे, भैसदही, बैतुल (म.प्र.)
३९७८. प्रधान पाठक, न्यू आइडियल इंगलिश स्कूल, बैतुल (म.प्र.)
३९७९. डॉ. एन. आर. साबले, बैतुल (म.प्र.)
३९८०. डॉ. वामनराव सोनी, भड्डस, बैतुल (म.प्र.)
३९८१. श्री रिखीराम मालवीय, हिवरखेड़ी, बैतुल (म.प्र.)
३९८२. श्री सतीश कुमार बर्डे, बैतुल (म.प्र.)
३९८३. श्री विवेकानन्द विज्ञान महाविद्यालय, बैतुल (म.प्र.)
३९८४. श्री गुलाबराव पोटफोड़े, सेलगाँव, बैतुल (म.प्र.)
३९८५. फेयर प्राइस शाप, नारायणपुर, बस्तर (म.प्र.)
३९८६. श्री नरेन्द्र पुजारी, रायपुर (म.प्र.)
३९८७. श्री ललित प्रकाशचन्द्र चोपड़ा, बुलढाना (महा.)
३९८८. श्री के. वी. रंगाराव, दुर्ग (म.प्र.)
३९८९. श्रीमती सुधा सांथलिया, जयपुर (राज.)
३९९०. श्रीमती निर्मला बजाज, गाजियाबाद (उ.प्र.)
३९९१. श्रीमती मंगला कोनेका, नई दिल्ली
३९९२. श्री शिखर कुमार शुक्ला, भिलाई, दुर्ग (म.प्र.)
३९९३. श्री रामबाबू वैश्य, ग्वालियर (म.प्र.)
३९९४. श्री मेघनाथ, बचेली, बस्तर (म.प्र.)
३९९५. श्री प्रकाश उइके, नेहरूनगर, भोपाल (म. प्र.)
३९९६. श्रीमती सुमित्रा नथानी, सिविल लाइन्स, रायपुर (म. प्र.)

ग्राहकों से निवेदन

(१) जिन ग्राहकों का वार्षिक चन्दा इस चतुर्थ अंक के साथ समाप्त हो रहा है, वे कृपया अगले वर्ष के लिए अपने चन्दे का रु. २०/- संलग्न मनिआर्डर फार्म के द्वारा भिजवा देवें। आप में से जिनका सम्पूर्ण चन्दा जमा नहीं है, वे भी कृपया संलग्न मनीआर्डर फार्म में दर्शायी बकाया राशि भेजकर वर्ष की अपनी समस्त प्रतियाँ सुरक्षित करा लें।

(२) ग्राहकों से निवेदन है कि वे मनीआर्डर के कूपन में भी अपना नाम और पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का भी उल्लेख करें तथा नये ग्राहक लिख दें - ''नया ग्राहक''। यदि पुराने ग्राहकों को अपनी ग्राहक-संख्या का स्मरण न हो, तो वे कृपया लिखें -- '' पुराना ग्राहक''।

(३) जिन ग्राहकों को प्रायः डाक की अव्यवस्था के कारण पत्रिका न मिलने की शिकायत रहती है, उनसे अनुरोध है कि वे यदि प्रति अंक रु. ३/- का अतिरिक्त व्यय वहन करके पत्रिका को वी. पी. से मँगवायें, तो उन्हें सभी अंक सुरक्षित मिल जायेंगे। ग्राहकों पर यह अतिरिक्त व्ययभार पड़ने का हमें खेद है, परन्तु पत्रिका की सुरक्षित प्राप्ति का यही सरल उपाय है। आशा है आप हमें इसमें सहयोग देंगे। जिन ग्राहकों को हमारा यह सुझाव मान्य हो, वे कृपया हमें इसकी सूचना दें।

(४) अंक न मिलने की शिकायत एक माह पूरा हो जाने के बाद ही करें। पत्र लिखते समय अपनी ग्राहक-संख्या तथा अपने नाम व पिनकोड सहित पूरे पते का स्पष्ट रूप से उल्लेख करें।

— **व्यवस्थापक**

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा.लि., बजरंगनगर, रायपुर, फोन : २६६०३

कम्पोजिंग : अल्फा लेज़र स्पॉट, गीतानगर, रायपुर, फोन : २३५७७

पेट की विडम्बना

अभिमत-महामानग्रन्थि-प्रभेदपटीयसी
गुरुतर-गुणग्रामाम्भोज-स्फुटोज्ज्वलचन्द्रिका।
विपुलविलसल्लज्ञावल्ली-वितानकुठारिका
जठरपिठरी दुष्पूरेयं करोति विडम्बनम्।

अन्वय — अभिमत-महा-मान-ग्रन्थि-प्रभेद-पटीयसी (मानी लोगों के अभिमान-ग्रन्थि का छेदन करनेवाली) गुरुतर-गुण-ग्राम (श्रेष्ठ गुणसमूह रूपी) -अम्बोज (कमल को) -स्फुट-उज्ज्वल-चन्द्रिका (पूर्णिमा की चाँदनी के समान संकुचित करनेवाली) विपुल (अत्यन्त) -विलसत (प्रस्फुटित) -लज्ञा-वल्ली-वितान (लज्ञारूपी लताओं के वितान को) -कुठारिका (काटनेवाली कुल्हाड़ी के समान) दुष्पूरा (कभी न भरनेवाला) इयं (यह) जठर-पिठरी (उदररूपी पात्र ही) विडम्बनं (दैन्य आदि दुख) करोति (उत्पन्न करता है)।

अर्थ — उदरपूर्ति के लिए याचना स्वाभिमानी लोगों के परमप्रिय आत्मसम्मान का नाश करती है। चन्द्रमा के आलोक में कमल के समान ही इससे हमारे सद्गुण संकुचित हो जाते हैं। हमारे लज्ञा-संकोच रूपी हरी-भरी लता को कुठार के समान उन्मूलित कर डालनेवाला दुष्पूरणीय जठररूपी यह पात्र ही समस्त विडम्बनाओं का कारण है।

— भर्तृहरिकृत **वैराग्यशतकम्**, २२

सारदा - वन्दन

॥ १ ॥

(भैरवी-रूपक)

चिन्मयी माँ सारदा, रह पास मेरे सर्वदा,
खो न जाऊँ मैं जगत में, हो कहीं तुझसे जुदा।
छोड़ दुनिया के खिलौने, ली शरण चरणों में मैंने,
अब उठा निज गोद में, कर दूर मेरी दुर्दशा।
मूढ़ मैं सन्तान तेरी, और सुध ले कौन मेरी,
एक तेरा ही सहारा, माँ अभय-मंगल प्रदा।
चार दिन की जिन्दगी है, मोह-पीड़ा में पगी है,
जो रहे तू संग तो, सब सह सकूंगा आपदा।

॥ २ ॥

(पटदीप-रूपक)

स्नेहमूरति सारदे, भवजलधि से तार दे,
हम तुम्हारे आसरे, यूँ हमें न बिसार दे॥
मोह-माया में पड़े, झेलते हैं दुख बड़े,
अब हमारे चित्त से, अन्धकार निवार दे।
हाथ रखकर शीश पर, माँ हमें आशीष कर,
गोद में बैठालकर, स्नेह से पुचकार दे॥
बरस तू बन ज्योतिघन, दे बहा अज्ञान भ्रम,
हों सदा निश्चिन्त हम, माँ तुझी को भार दे।

— *'विदेह'*

अग्नि - मंत्र

(डॉ. नंजुन्दा राव को लिखित)

संयुक्त राज्य अमेरिका,
३० नवम्बर, १८९४

प्रिय डॉक्टर राव,

तुम्हारा सुन्दर पत्र मुझे अभी मिला। तुम श्रीरामकृष्ण को समझ सके, यह जानकर मुझे बड़ा हर्ष है। तुम्हारे तीव्र वैराग्य से मुझे और भी आनन्द मिला। ईश्वरप्राप्ति का यह एक आवश्यक अंग है। मुझे पहले से ही मद्रास से बड़ी आशा थी और अभी भी विश्वास है कि मद्रास से वह आध्यात्मिक तरंग उठेगी, जो सारे भारत को प्लावित कर देगी। मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूँ कि ईश्वर तुम्हारे शुभ संकल्पों का वेग और उत्साह बढ़ाता रहे; परन्तु मेरे बच्चे, यहाँ कठिनाइयाँ भी हैं। पहले तो किसी मनुष्य को शीघ्रता नहीं करनी चाहिए; दूसरे, तुम्हें अपनी माता और स्त्री के सम्बन्ध में सहृदयतापूर्वक विचारों से काम लेना उचित है। वैसे तुम यह कह सकते हो कि आप श्रीरामकृष्ण के शिष्यों ने संसार-त्याग करते समय अपने माता-पिता की सम्मति को अपेक्षा नहीं की और यह सत्य भी है। मैं जानता हूँ और निश्चित रूप से जानता हूँ कि बड़े-बड़े काम बिना बड़े स्वार्थ-त्याग के नहीं हो सकते। मैं अच्छी तरह जानता हूँ, भारत-माता अपनी उन्नति के लिए अपनी श्रेष्ठ सन्तानों की बलि चाहती है, और यह मेरी आन्तरिक अभिलाषा है कि तुम उन्हीं सौभाग्यशालियों में से एक होगे।

संसार के इतिहास से तुम जानते हो कि महापुरुषों ने बड़े-बड़े स्वार्थत्याग किये और उनके शुभ फल का भोग जनता ने किया। अगर तुम अपनी ही मुक्ति के लिए सब कुछ त्यागना चाहते हो, तो फिर वह त्याग कैसा? क्या तुम संसार के कल्याण के लिए अपनी मुक्ति-कामना तक छोड़ने को तैयार हो? तुम स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो, इस पर विचार करो। मेरी राय में तुम्हें कुछ दिनों के लिए ब्रह्मचारी बनकर रहना चाहिए। अर्थात् कुछ काल के लिए स्त्री-संग छोड़कर अपने पिता के घर में ही रहो; यही 'कुटीचक' अवस्था है। संसार की हित-कामना के लिए अपने महान् स्वार्थ-त्याग के सम्बन्ध में अपनी पत्नी को सहमत करने की चेष्टा करो। अगर तुममें ज्वलन्त विश्वास, सर्वविजयिनी प्रीति और सर्वशक्तिमयी पवित्रता है, तो तुम्हारे शीघ्र सफल होने में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं। तन, मन और प्राणों का उत्सर्ग करके श्रीरामकृष्ण की शिक्षाओं का विस्तार करने में लग जाओ, क्योंकि कर्म ही पहला सोपान है।

खूब मन लगाकर संस्कृत का अध्ययन करो और साधना का भी अभ्यास करते रहो। कारण, तुम्हें मनुष्य जाति का श्रेष्ठ शिक्षक होना है। हमारे गुरुदेव कहा करते थे कोई आत्महत्या करनाचाहे, तो वह नहरनी से ही काम चला सकता है, परन्तु दूसरों को मारना हो, तो तोप-तलवार की आवश्यकता होती है। समय आने पर तुम्हें वह अधिकार प्राप्त हो जायगा, जब तुम संसार त्यागकर चारों ओर उनके पवित्र नाम का प्रचार कर सकोगे। तुम्हारा संकल्प शुभ और पवित्र है। ईश्वर तुम्हें उन्नत करे, परन्तु जल्दी में कुछ कर न बैठना। पहले कर्म और साधना द्वारा अपने को पवित्र करो। भारत चिरकाल से दुःख सहता आ रहा है; सनातन धर्म दीर्घकाल से अत्याचारपीड़ित है। परन्तु ईश्वर दयामय है। वह फिर अपनी सन्तानों के परित्राण के लिए आया है, पुनः पतित भारत को उठने का सुयोग मिला है।

श्रीरामकृष्ण के पदप्रान्त में बैठने पर ही भारत का उत्थान हो सकता है। उनकी जीवनी एवं उनकी शिक्षाओं को चारों ओर फैलाना होगा, हिन्दू समाज के रोम-रोम में उन्हें भरना होगा। यह कौन करेगा? श्रीरामकृष्ण की पताका हाथ में लेकर संसार की मुक्ति के लिए अभियान करनेवाला है कोई? नाम और यश, ऐश्वर्य और भोग का, यहाँ तक कि इहलोक और परलोक की सारी आशाओं का बलिदान करके अवनति की बाढ़ रोकनेवाला है कोई? कुछ इने-गुने युवकों ने इसमें अपने को झोंक दिया है, अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया है। परन्तु इनकी संख्या थोड़ी है। हम चाहते हैं कि ऐसे ही कई हजार मनुष्य आयें और मैं जानता हूँ कि वे आयेंगे। मुझे हर्ष है कि हमारे प्रभु ने तुम्हारे मन में उन्हीं में से एक होने का भाव भर दिया है। वह धन्य है, जिसे प्रभु ने चुन लिया। तुम्हारा संकल्प शुभ है, तुम्हारी आशाएँ उच्च हैं, घोर अन्धकार में डूबे हुए हजारों मनुष्यों को प्रभु के ज्ञानालोक के सम्मुख लाने का तुम्हारा लक्ष्य संसार के सब लक्ष्यों से महान् है। परन्तु मेरे बच्चे, इस मार्ग में बाधाएँ भी हैं। जल्दबाजी में कोई काम नहीं होगा। पवित्रता, धैर्य तथा अध्यवसाय, इन्हीं तीनों गुणों से सफलता मिलती है, और सर्वोपरि है प्रेम। तुम्हारे सामने अनन्त समय है, अतएव अनुचित शीघ्रता आवश्यक नहीं। यदि तुम पवित्र और निष्कपट हो, तो सब काम ठीक हो जायेंगे। हमें तुम्हारे जैसे हजारों की आवश्यकता है, जो समाज पर टूट पड़ें और जहाँ कहीं जायँ, वहीं नये जीवन और नयी शक्ति का संचार कर दें। ईश्वर तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करें।

सस्नेह आशीर्वाद के साथ,

विवेकानन्द

दान की महिमा

स्वामी आत्मानन्द

समस्त धर्मग्रन्थ और नीतिशास्त्र दान की महिमा गाते नहीं थकते। ऊपरी दृष्टि से भी लगता है कि दान एक पुण्य और महान् कर्म है। पर हममें से बहुतों को दान का तत्त्व मालूम नहीं रहता, इसलिए दान की क्रिया से हम अपने आपको लाभान्वित नहीं कर पाते।

सामन्यतः दान का जो रूप प्रचलित है, वह है भूखे को भोजन देना, नंगे को वस्त्र, किसी धर्मार्थ संस्था को अर्थ या द्रव्य से सहायता देना, कहीं धर्मशाला बनवा देना, कुआँ खुदवा देना, मन्दिर बनवा देना, आदि आदि। ये सब कार्य अच्छे हैं, यदि विवेकपूर्वक किये जायँ। पर यदि दान की क्रिया के पीछे विवेक का अभाव हो, तो दाता और ग्रहीता दोनों-के-दोनों लाभ के वंचित हो जाते हैं।

दान का प्रभाव दो प्रकार का होता है — एक तो ग्रहीता पर और दूसरा, दाता पर स्वयं। दान की क्रिया से ये दोनों ही प्रभावित होते हैं। दान लेकर ग्रहीता में कुण्ठा भी आ सकती है और धन्यता का भाव भी। उसी प्रकार दान देकर दाता 'दानी का दम्भ' भी अपने भीतर अनुभव कर सकता है और कृतकृत्यता का बोध भी। श्रेष्ठ दान वह है, जिसमें दाता कृतकृत्यता का अनुभव करे और ग्रहीता धन्यता का। 'रामचरितमानस' में काकभुशुण्डि के माध्यम से गरुड़ को ज्ञानदान की चर्चा की गयी है, जहाँ दाता और ग्रहीता में परस्पर कृतकृत्यता और धन्यता का अनुभव-बोध है।

इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द का विचार बड़ा ही मननीय है। वे कहते हैं, "उच्च स्थान पर खड़े होकर और हाथ में कुछ पैसे लेकर यह न कहो — ऐ भिखारी, आओ यह लो। अपितु इस बात के लिए उपकार मानो कि तुम्हारे सामने वह गरीब है, जिसे दान देकर तुम अपनी स्वयं की सहायता कर सकते हो। सौभाग्य पानेवाले का नहीं, बल्कि वस्तुतः देनेवाले का है। उसका आभार मानो कि उसने तुम्हें संसार में अपनी उदारता और दया प्रकट करने का अवसर दिया और इस प्रकार तुम शुद्ध और पूर्ण बन सके।"

पर दान देने के पीछे हमारी वृत्ति सामान्यतया ऐसी नहीं होती। हम तो थोड़ा-सा देकर बहुत-सा एहसान मनवाना चाहते है। उससे बेचारा ग्रहीता दब-सा जाता है

और उसके जीवन में एक ऐसी कुण्ठा जन्म लेती है, जो दाता के प्रति उसमें कृतज्ञता का भाव भरने के बदले आक्रोश का भाव भर देती है। हम एक गरीब लड़के को पढ़ने में थोड़ी-सी सहायता क्या करते हैं कि जीवन-भर अपने दान का ढिंढोरा पीटते रहते हैं। किसी संस्था को दान देते हैं, तो नाम और सम्मान की आशा रखते हैं। धर्म की दृष्टि से देखें तो हम दान को पुण्य के रूप में भँजाना चाहते हैं। इससे दान व्यवसाय का रूप ले लेता है, जिसमें लेन-देन का भाव बना रहता है। ऐसे दान से दाता को भले ही नाम-यश मिल जाये तथा ग्रहीता व्यक्ति या संस्था को भौतिक दृष्टि से लाभ हो, पर दाता को दान का वास्तविक लाभ नहीं मिल पाता।

दान का वास्तविक मर्म है दाता के स्वार्थबोध का विस्तार। अभी व्यक्ति केवल अपने ही परिवार को अपना मानता है, पर जब वह दान देता है, तो मानो अपने स्वार्थ को विस्तृत करता है – अब एक बड़े दायरे को अपना मानने की चेष्टा करता है। इस प्रकार दान निःस्वार्थता का पाठ है। यदि यह भाव रहे कि परोपकार में अपना ही उपकार है, तो दान दाता के जीवन में सही सही लाभ लाकर उपस्थित करता है।

अमेरिका में राकफेलर अपने मित्र के कहने पर स्वामी विवेकानन्द से मिलने आये। राकफेलर में तब दान की वृत्ति नहीं थी। स्वामीजी ने उपदेश के स्वर में उनसे कहा – तुमको भगवान ने जब इतनी सम्पत्ति दी है, तब तुम्हें चाहिए कि अपने को उसका ट्रस्टी समझते हुए उसका उपयोग जनता की भलाई के लिए करो। राकफेलर इस प्रकार उपदेश सुनने के आदी नहीं थे। वे रुष्ट होकर चले गये। कुछ ही दिन बाद वे फिर स्वामीजी से मिलने आये और उनकी मेज पर एक चेक रखते हुए बोले – "Here, take it and now you should thank me for this." – 'यह लीजिए और अब इसके लिए मुझे धन्यवाद दीजिए।' स्वामीजी ने उस चेक को बिना देखे राकफेलर को लौटाते हुए कहा – "Rather you should thank me for this." – 'बल्कि तुम्हीं मुझे इसके लिए धन्यवाद दो!' स्वामीजी का तात्पर्य था कि मैंने तुम्हें दिशाबोध दिया है इसलिए तुम्हीं मुझे धन्यवाद दोगे। वह एक बड़ी राशि का चेक था, जो अमेरिका की किसी संस्था के नाम काटा गया था। यही राकफेलर का सर्वप्रथम दान था। वह स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा थी जिसने राकफेलर को सही मायने में दानी बनाया। दान का वास्तविक मर्म यही है।

□

श्रीरामकृष्ण - वचनामृत - प्रसंग

(पचपनवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्द रामकृष्ण मठ/मिशन बेलुड़ मठ के अध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान, काकुड़गाछी, कलकत्ता में 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय द्वारा छह भागों में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता को देखते हुए 'विवेक ज्योति में' इसे क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा रहा है। इसके हिन्दी रूपान्तरकार श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।- सं.)

दक्षिणेश्वर में ठाकुर भक्तों के साथ बैठे हुए हैं। आज के प्रसंग की विशेषता कुछ खास है। आज भक्तगण उनका जन्मोत्सव कर रहे हैं। कई परिच्छेदों में पूरे दिन का वर्णन हुआ है। मास्टर महाशय सुबह आए हैं और उन्होंने जो कुछ देखा, उन सबका वर्णन किया है।

भवनाथ, राखाल तथा भवनाथ के मित्र कालीकृष्ण उपस्थित हैं। भवनाथ और कालीकृष्ण ने गाया — (भावार्थ) 'हे आनन्दमय, आज का दिन धन्य है।' भजन सुनकर श्रीरामकृष्ण भावस्थ हो गये हैं। कालीकृष्ण जाने के लिए उठे। वे श्रमजीवी शिक्षालय में पढ़ाते हैं। उनका इस तरह उठना ठाकुर को पसन्द नहीं आया। वे आक्षेप करते हुए बोले, "आज हरिनाम में कितना आनन्द होता है, देखता। पर उसके भाग्य में नहीं है।" कालीकृष्ण जहाँ जा रहे हैं वह सत्कार्य है, फिर भी भगवान को लेकर यहाँ जो आनन्द है, उसकी तुलना में वह गौण है।

लगभग साढ़े आठ-नौ बजे होंगे। अब ठाकुर स्नान करेंगे। ठण्ड लग गयी है, इसीलिए खूब सावधान हैं। गंगा में स्नान न करके घड़े में लाये हुए जल से ही स्नान करेंगे। सिर पर एक लोटे से अधिक पानी नहीं डालेंगे। इतनी सावधानी क्यों? इस यंत्र के द्वारा जगन्माता लोक-कल्याण कराएँगी, इसीलिए इतने यत्नपूर्वक रक्षा करनी है। स्नान के बाद वे शुद्ध वस्त्र पहनकर भगवन्नाम का स्मरण करते हुए माँ काली के मन्दिर, विष्णुमन्दिर और शिवमन्दिर में प्रणाम करने गये। मास्टर महाशय वर्णन करते हैं कि ठाकुर की दृष्टि अण्डे को सेते समय चिड़िया की दृष्टि जिस प्रकार

होती है, उसी के सदृश हो रही है। प्रणाम के बाद में अपने कमरे में आ गये।

नित्यगोपाल और चेतावनी

राम, नित्यगोपाल, केदार आदि भक्तगण आये हैं। ठाकुर नित्यगोपाल से स्नेह करते हैं। उनकी परमहंस अवस्था है, यह बात ठाकुर बीच बीच में कहते हैं। एक भक्तिमती महिला बालकस्वभाव नित्यगोपाल को सन्तानवत स्नेह करती हैं और बीच बीच में अपने घर ले जाती हैं। नित्यगोपाल की उच्च अवस्था होने पर भी ठाकुर उनसे कहते हैं, "अरे साधु, सावधान! ज्यादा मत जाना — गिर पड़ेगा। इस सन्दर्भ में यह बात याद रखनी होगी, कि ठाकुर ने उन्हें जाने से पूर्णतः मना नहीं किया। ध्यान रखना होगा कि इन लोगों के विषय में उनके मन में किसी सन्देह का भाव नहीं था। ठाकुर ने इसलिए सावधान कर दिया कि मन की दुर्बलता न जाने कब आकर उस सम्बन्ध को विकृत कर दे। सर्वदा यह सावधानी बरतने की आवश्यकता है। भक्त-स्त्रियों का कहना था कि ठाकुर उन्हें अधिक देर तक अपने पास नहीं रहने देते थे। ऐसा व्यवहार वे लोकशिक्षा के लिए ही करते थे। ठाकुर की यह चेतावनी केवल पुरुषों के लिए ही नहीं, नारियों के लिए भी प्रयोज्य है। स्त्री-पुरुषों को एक दूसरे से सावधान रहना ही उचित है। श्री माँ ने अपने भक्तों से कहा था, "प्रेम तो खूब करती हूँ, परन्तु शरीर से तो अधिक मेल-जोल नहीं कर सकती।" वे माँ हैं, हमारी अपनी माँ — जगन्माता, फिर भी यह बात कहती हैं। लोकशिक्षा के लिए इस सावधानी की आवश्यकता है।

माँ की वाणी

शास्त्र का निर्देश है — संन्यासी को स्त्रियों से सदा दूर रहना होगा। समाज में भी इस व्यवस्था की आवश्यकता है। यथासम्भव थोड़ा संयम रखकर चलने की आवश्यकता है। इस सावधानी के अभाव में अनेक संस्थाएँ नष्ट हो गयी हैं। गाँधीजी बड़े नीतिवादी थे। उनके सेवाग्राम में स्त्री-पुरुष सभी आत्मीय भाव से रहते थे। बाद में अपने कड़वे अनुभव से वे समझ गये कि यह भूल हुई है और तब उन्होंने संस्था को बन्द कर दिया। इसीलिए शास्त्र हमें पहले से ही सावधान कर देते हैं। संन्यासी के सम्बन्ध में कहा गया — जो संन्यासी होगा, वह काठ की भी स्त्रीमूर्ति को पाँव से भी स्पर्श नहीं करेगा। बड़ी कठोर भाषा का प्रयोग किया गया। वैसे ये सब बातें सावधानी रखने के लिए ही कही गई हैं; महिलाएँ इसे सुनकर अन्यथा न समझे। ठाकुर के जीवन में हम देखते हैं कि वे गोपाल-की-माँ की गोद

में बैठ जाते हैं। तब उनका गोपाल भाव था। जानबाजार में मथुरबाबू के घर में वे उनकी पत्नी तथा मथुरबाबू के साथ एक ही बिस्तर पर सोये हैं। वे दोनों ठाकुर को एक शिशु के रूप में देखते थे। यह व्यवहार ठाकुर के लिए ही सम्भव है, अन्य किसी के लिए नहीं। क्या इसका अनुकरण करना उचित है?

लोकोत्तर पुरुष के वाक्य का अनुसरण करना चाहिए, सर्वदा उनके आचरण का अनुसरण नहीं किया जा सकता। भागवत में कहा गया है — वे लोग जो कहते हैं वैसा करना, लेकिन जो करते हैं उसका अनुसरण मत करना, वह सर्वदा तुम्हारे लिए कल्याणकारी नहीं होगा। यह बात हमें याद रखनी होगी। मास्टर महाशय ठाकुर की चेतावनी सुनकर स्तब्ध रह गये और सोचने लगे — श्री चैतन्यदेव ने छोटे हरिदास को इतनी कठोर सजा क्यों दी? हरिदास से असन्तुष्ट होकर नहीं, अपितु लोकशिक्षा के लिए, संन्यास के उच्च आदर्श की रक्षा के लिए ही उन्होंने हरिदास का परित्याग किया था। ठाकुर की यह चेतावनी — साधु सावधान — मास्टर महाशय के मन में बहुत गहराई तक पैठ गयी।

अनाहत शब्द

इसके बाद ठाकुर भक्तों के साथ कमरे के उत्तर-पूर्व वाले बरामदे में आए। दक्षिणेश्वर के ही एक सज्जन वेदान्त का प्रसंग उठाकर अनाहत शब्द के बारे में कहने लगे — जो आघात से उत्पन्न होता है, उसे शब्द कहते हैं, जैसे दो हाथों से ताली बजाने पर शब्द होता है या लाठी को घुमाने पर हवा के साथ उसके घर्षण से एक तरह का शब्द होता है। इस आघातजनित शब्द का हम अनुभव करते हैं। ठाकुर कहते हैं, "केवल शब्द होने से ही तो काम नहीं चलेगा। शब्द का एक प्रतिपाद्य भी है।" ठाकुर अनाहत शब्द के सम्बन्ध में कह रहे हैं। अनाहत शब्द ही मूल कारण है — ॐकार का आदिरूप है। शब्द का प्रतिपाद्य विषय क्या है? या ब्रह्म यदि एक शब्द हो तो उसका प्रतिपाद्य विषय क्या है? वे सज्जन बोले, "यह शब्द ही ब्रह्म है।" यह ऋषियों का मत है। वे जगत-वैचित्र्य को स्थूल रूप में नहीं मानते; जगत्कारण के रूप में शब्द को मानते हैं।

रामचन्द्र और अवतार-तत्त्व

ठाकुर ऋषियों के सम्बन्ध में कहते हैं — उन लोगों ने श्रीरामचन्द्र को अवतार या भगवान के किसी विशिष्ट रूप में नहीं चाहा। वे अखण्ड-सच्चिदानन्द के उपासक थे। यहाँ पर केदार चटर्जी ने कहा, "ऋषियों ने राम को अवतार के रूप में नहीं

पहचाना, वे नासमझ थे।'' ठाकुर गम्भीर होकर बोले, ''ऐसा मत कहो। जिसकी जैसी रुचि।'' ऋषिगण उच्चकोटि के ज्ञानी साधक थे, इसीलिए वे अखण्ड सच्चिदानन्द को चाहते थे। भक्त लोग अवतार को चाहते है, भक्ति का आस्वादन करने के लिए। पुराण में कहा गया — रामचन्द्र जब सभा में आए, तब सबके हृदयपद्म प्रस्फुटित हो उठे। ऐसा कहते कहते ठाकुर समाधिस्थ हो गये, बाह्यज्ञानशून्य हो गये। भक्तगण अपलक दृष्टि से इस समाधिमूर्ति को देख रहे हैं।

बहुत देर बाद उनकी समाधि भंग हुई। राम के सम्बन्ध में कहते कहते वे समाधिस्थ हो गये थे, अतः रामनाम का उच्चारण करते हुए उनकी समाधि टूटी। उस लोकातीत अवस्था से वे धीरे-धीरे उतर रहे हैं। अब वे भक्तों के साथ अवतार-तत्त्व पर चर्चा करने लगे। अवतार जब आते हैं तो छिपकर आते हैं। दो-चार अन्तरंग भक्त ही उन्हें जान पाते हैं। राम पूर्ण ब्रह्म थे, पूर्णावतार थे — यह बात सबको नहीं, केवल बारह ऋषियों को ज्ञात थी। जिसकी भक्ति पक्की है, उसे दोनों वस्तुओं का स्वाद मिला है। नित्य अर्थात् इस समस्त वैचित्र्य से ऊपर जो निर्गुण स्वरूप है, उसका भी स्वाद मिला और यह भी देखता है कि वे ही लीला कर रहे हैं। लीला में भी आनन्द पा रहा है। यह विज्ञानी की अवस्था है। भागवत में है कि गोपियाँ जानती थीं कि श्रीकृष्ण अखण्ड सच्चिदानन्द हैं, किन्तु वे अपने लीलासहचर श्रीकृष्ण को ही चाहती थीं।

□

मानस रोग (२५/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने "श्रीरामचरितमानस" के अन्तर्गत मानस-रोग प्रकरण पर कुल ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके पचीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। — सं.)

महाराज दशरथ के मन में भावना यह थी — कैकेयी मुझसे कहा करती है कि राज्य राम को मिले। अब, जब यह निर्णय हो गया कि कल राम का राज्याभिषेक होगा, तो यह समाचार कैकेयी के पास और कोई दास-दासी न ले जाय, बल्कि मैं स्वयं ही जाकर उसे सुनाऊँगा और विनोद तथा श्रृंगार के भाव में कहूँगा कि मैंने तुमको इतना अच्छा समाचार दिया है, इस पर अब मुझे पुरस्कार मिलना चाहिए। मेरे इस प्रकार के व्यवहार से कैकेयी को बड़ी प्रसन्नता होगी। इस समाचार को छिपाने के पीछे महाराज श्री दशरथ का उद्देश्य मात्र इतना ही था। कोई छल-कपट और कुटिलता की वृत्ति उनके मन में नहीं थी। वे तो बड़े सरल थे। कैकेयी के प्रति उनके मन में प्रीति थी। उन्हें तो इस बात की कल्पना तक न थी कि कैकेयी रामराज्य का विरोध भी कर सकती है। इसीलिए हम देखते हैं कि महाराज दशरथ कैकेयी के लिए जिस वाक्य का प्रयोग करते हैं, उसमें ये ही शब्द है —

भामिनि भयउ तोर मनभावा ।
घर घर नगर अनंद बधावा । २/२७/२

— देखो, तुम जो चाहती थी, मुझसे माँगा करती थी, आज वह पूरा हो गया। घर-घर में बाजे बज रहे हैं। महाराज श्रीदशरथ के मन में प्रेम और आसक्ति की वृत्ति अवश्य थी, फिर भी वे सरल थे, उनमें कुटिलता नहीं थी।

कुटिलता तो मन्थरा में थी। मन्थरा ने इसी बात को लेकर कैकेयी के मन में संशय उत्पन्न कर दिया कि राम को राज्य देना है तो यह बात आपसे छिपाई क्यों गई? कोई बहुत बड़ा षड्यंत्र है, इसीलिए इसे आपसे छिपाया गया है। मन्थरा की बात तो अपनी जगह पर तर्कसंगत है और कई लोगों को आज भी यही सन्देह होता है कि जरूर कोई षड्यंत्र था, तभी छिपाया गया। दशरथजी की भावना चाहे

जितनी अच्छी रही हो, पर मन्थरा ने कैकेयी के सामने अपने तर्क को इतनी चतुराई से रखा, असत्य को सत्य का ऐसा जामा पहनाया कि कैकेयी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकीं। यद्यपि राम को राज्य देने का निर्णय एक दिन पहले ही हुआ था, पर मन्थरा ने सोचा कि यह कहने पर कि राम को राज्य देने का निर्णय कल हो चुका और आपको अभी तक इसकी सूचना नहीं है, कैकेयी सोच सकती हैं कि ठीक है, राज-काज में सूचना पहुँचने में इतनी देर तो हो ही जाती है। तब उसने एक सत्य के साथ एक असत्य को इस तरह जोड़ दिया कि वह असत्य भी सत्य लगने लगा। बोली — क्या आप जानती हैं कि राम को राज्य देने की तैयारी कबसे चल रही है?

भयउ पाखु दिन सजत समाजू।
तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू। २/१६/३

— पन्द्रह दिन से तैयारी चल रही है, पर आपको किसी ने नहीं बताया। आपसे छिपाया जा रहा है। देखिए कितना बड़ा षड्यंत्र है। अगर मैं न बताती तो यह समाचार आज भी आपको न मिलता। आप मुझे धन्यवाद दीजिए कि मैंने इस षड्यंत्र का समय रहते पता लगा लिया और आपको सावधान कर रही हूँ। मुझे आपकी कितनी चिन्ता है! मैं पता लगाती रहती हूँ कि समाज में कहीं किसी के मन में आपके प्रति दुर्भाव तो नहीं आ रहा है? और देखिए, आज वही हुआ। अगर मैं आज न होती तो आपको पता ही न चल पाता कि आपके विरुद्ध कितना बड़ा षड्यंत्र रचा जा रहा है। आपसे छिपाया जा रहा है। कोई भी बताने का साहस नहीं कर पा रहा है, पर मुझे कैसा डर —

खाइय पहिरिय राज तुम्हारें।
सत्य कहें नहिं दोष हमारें। २/१६/४

— सच बोलने में क्या डर है! मैं तो सच बोलती हूँ। सच बोलने का मेरा व्रत है और मैं आपकी सेविका हूँ, इस नाते भी आपका हित करना मेरा कर्तव्य है, मेरा धर्म है। मन्थरा के इस सत्य और धर्म के पीछे उसकी वृत्ति क्या है?

सत्य और हित का नाम लेकर संशय का बीज डाल देना, यही कुटिलता का दृष्टान्त है। आज भी कई लोग कहते हैं कि मन्थरा में बुराई क्या थी! वह कैकेयी की दासी थी, कैकेयी का हित चाहती थी। किन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि यह मत भूलिए कि मन्थरा किसी का हित नहीं चाहती थी। मन्थरा की वृत्ति उन लोगों की

वृत्ति है, जो झगड़ा लगाकर उसे देखने में आनन्द लेते हैं। वे जो पक्ष-विपक्ष लेते हैं, उसका वास्तविक महत्त्व कुछ भी नहीं है। कैकेयी के प्रति मन्थरा का जो व्यवहार था, उसके लिए गोस्वामीजी ने दृष्टान्त कौन सा दिया? जैसे कोई बकरे को लाकर उसे हरा-हरा चारा खिला रहा हो और बकरा बड़ा प्रसन्न होकर सोच रहा हो — चलो, हमें चरने जाना पड़ता था, यहाँ पर घर बैठे ही चारा खिलाया जा रहा है। पर चारा खिलानेवाले की योजना क्या है? यह कि बकरा चारा खाकर जितना ही मोटा होगा, बलि देने पर मांस उतना ही अधिक मिलेगा। गोस्वामीजी कहते हैं कि मन्थरा तो वस्तुतः कैकेयी का बलिदान करने पर तुली हुई है। पर कैकेयी का दुर्भाग्य क्या है?

लखइ न रानि निकट दुखु कैसें।
चरइ हरित तिन बलिपसु जैसें। २/२२/२

कैकेयी को दिखाई नहीं दे रहा है। मन्थरा कैकेयी को माध्यम बनाकर परिवार और राज्य में अनर्थ की सृष्टि करने जा रही है। प्रदर्शन तो यह करती है कि वह स्वयं निष्काम है, सत्य-धर्म और परहित की व्रती है। कहती है — "कोउ नृप होउ हमहि का हानी।" — राजा राम हों या भरत, उससे व्यक्तिगत रूप से मुझे न तो कोई लाभ है और न हानि। मैं तो सत्य का पक्ष लेती हूँ और वही करती हूँ, जिसमें आपका हित हो।

मन्थरा बोलने में इतनी चतुर और सावधान है कि जब कैकेयी ने कहा कि राम तो मुझे कौशल्या से भी अधिक चाहते हैं, तब मन्थरा ने उसका प्रतिवाद नहीं किया कि राम आपको कौशल्या से अधिक नहीं चाहते। बल्कि उसने तुरन्त कहा कि आप जो कह रही हैं वह बिलकुल सत्य है, सचमुच राम आपको बहुत अधिक चाहते थे। अब क्या हो गया? उसने कहा — 'रहा प्रथम अब ते दिन बीते।' — अब वे दिन गये। कैकेयी के मुँह से जब यह वाक्य निकला — 'मो पर करहिं सनेहु बिसेषी।' राम मुझसे अत्यधिक प्रेम करते हैं, अपनी माँ कौशल्या से भी अधिक प्रेम मुझसे करते हैं। — कैसे पता चला? तो कैकेयी ने बताया कि उन्होंने राम की परीक्षा लेकर देखा है। मन्थरा इतनी चतुर है कि वह यह नहीं कहती कि आपकी परीक्षा गलत है, बल्कि व्यंग्य करती है कि ठीक है परीक्षा में किसी के एक बार उत्तीर्ण हो जाने का अर्थ यह तो नहीं है कि वह अब हर बार बिना परीक्षा दिये ही उत्तीर्ण होता जायगा। राम कभी उत्तीर्ण हुए होंगे, किन्तु पिछले कुछ दिनों

से आपने उनकी परीक्षा नहीं ली होगी। इसलिए मैं आपको बताना चाहती हूँ कि आप धोखे में न रहें। उसने दृष्टान्त दिया —

भानु कमल कुल पोषनिहारा ।
बिनु जल जारि करइ सोइ छारा। २/१७/७

बड़े साहित्य ढंग से और बड़ी काव्यमयी भाषा में मन्थरा ने कहा — बताइए तो, सूर्य कमल से प्रेम करता है कि नहीं? कैकेयी ने कहा — कमल और सूर्य का प्रेम तो साहित्य में प्रसिद्ध है। मन्थरा ने कहा — अभी आपने इसके दूसरे पक्ष को नहीं देखा है। कमल जब तक जल में है, तब तक तो सूर्य उसे खिलाता है, किन्तु जल यदि सूख जाय, तो वही सूर्य उसे जलाकर नष्ट कर डालता है। यही सम्बन्ध आपसे राम का है। आप हैं कमल और राम हैं सूर्य। आप दोनों में बड़ा प्रेम है। किन्तु जब तक आप राजसत्ता के जल में हैं, तभी तक राम को आपसे प्रेम है। ज्योंही यह जल सूख जायगा, राम आपको उखाड़ फेंकेंगे। कैसा साहित्यिक दृष्टान्त है, कैसी कवित्वपूर्ण भाषा है, कैसा अद्‌भुत् विश्लेषण है! कैकेयी तो चकित रह गयीं। कितनी युक्तियुक्त बात कही मन्थरा ने, कितनी गहराई है उसकी बातों में!

कैकेयी प्रभावित होकर कहने लगीं — मन्थरा, क्या बताऊँ, आज तक मैंने कभी किसी का बुरा नहीं किया, मेरे अन्तःकरण में कभी किसी का अहित करने की वृत्ति का उदय नहीं हुआ। मन्थरा बोली — मैं जानती हूँ, आप कितनी सरल, निश्छल और उदारहृदय हैं। किसी भी व्यक्ति को ऐसा कहने पर उसे बड़ी प्रसन्नता होती है। सड़कों के किनारे जो हाथ देखनेवाले बैठे रहते हैं, वे इतना जरूर कह देते हैं कि आप तो दूसरों का भला करते हैं, पर लोग आपका भला नहीं चाहते। इस वाक्य को सुनकर लोग बड़े प्रसन्न होते हैं — हाँ, हम तो बड़े अच्छे हैं, बाकी सब लोग बुरे हैं। मन्थरा ने भी कैकेयी से यही कहा कि आप तो बड़ी अच्छी हैं, बड़ी सरल हैं, पर बाकी लोग आपके लिए षड्यंत्र रच रहे हैं, और इस षड्यंत्र के मूल में कौन है? यह रामराज्य का षड्यंत्र किसकी रचना है? कौशल्या की। फिर वह व्याख्या करने लगी कि कौशल्या को यह षड्यंत्र रचने की क्या आवश्यकता थी? बोली — आप यह तो स्वीकार करती हैं कि महाराज आपसे अधिक प्रेम करते हैं। कैकेयी ने कहा — हाँ। — तो क्या आप ऐसा नहीं मानतीं कि किसी भी सौत को उसके पति द्वारा उससे भी अधिक किसी और से प्रेम किया जाना सहन नहीं होगा? कौशल्या तो बहुत दिनों से मन-ही-मन सोच रही थी कि इस काँटे को कैसे

निकाला जाय? महाराज आपसे बहुत प्रेम करते हैं, इसलिए सीधा विद्रोह करने का साहस उसने नहीं किया, किन्तु —

चतुर गँभीर राम महतारी।
बीचु पाइ निज बात सँवारी। २/१८/१

और आगे उसने पूरी व्याख्या कर दी —

पठए भरतु भूप ननिअउरें। २/१८/२

— भरत ननिहाल भेज दिये गये। यद्यपि भरत अपने मामा के विवाह में सम्मिलित होने के लिए ननिहाल गये थे, किन्तु मन्थरा प्रत्येक घटना को इस प्रकार जोड़ती जा रही है कि वे पूरी तरह से असत्य होते हुए भी सत्य प्रतीत हो रहे हैं। मन्थरा कहती है — यह षड्यंत्र वर्षो से चल रहा है। कौशल्या ने जानबूझकर भरत को ननिहाल भेज दिया और राम का स्वभाव भी अब बदल चुका है। लक्ष्मण आगे चलकर उन्नति करेंगे। राम जब राजा होंगे, तब लक्ष्मण ही तो राज-पाट सम्हालेंगे। मैं तो आपका भविष्य अन्धकारमय देख रही हूँ। और जबसे मैंने यह समाचार सुना ...। पर वास्तविकता तो यह है कि मन्थरा को अभी कुछ ही देर पहले यह समाचार मिला है, परन्तु वह कहती क्या है —

जबतें कुमत सुना मैं स्वामिनि।
भूख न बासर नींद न जामिनि। २/२१/६

— न मुझे भूख लगती है, न नींद आती है। — कितने दिनों से? कहती है — पन्द्रह दिनों से यही हाल है। बेचारी कैकेयी केवल यही नहीं पूछ पाई कि जब वह पन्द्रह दिनों से देख रही थी, तो पहले क्यों नहीं बताया। आज पन्द्रह दिन बाद क्यों बता रही है? पर उसने कहा — यह समाचार मुझे भी देर से मिला, पर इसकी तैयारी पन्द्रह दिनों से चल रही थी। मन्थरा में इतनी गहरी कुटिलता और कुटबुद्धि है कि कैकेयी उससे पूरी तरह से प्रभावित हो गयीं। कहने लगीं — तू तो जानती है कि मेरा स्वभाव कैसा है —

अपने चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन्ह।
केहि अघ एकहि बार मोहि दैअँ दुसह दुखु दीन्ह। २/२०

मैंने तो अपनी ओर से किसी का अहित नहीं किया, फिर भी लोग मेरे विरुद्ध इतना बड़ा षड्यत्र रचते हैं, मैं क्या करूँ? मन्थरा ने तुरन्त कहा — घबराइए मत, मैं यहाँ आने के पहले ज्योतिषियों के पास गई थी। क्या पता लगाकर आई —

पूँछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची।
भरत भुवाल होहिं यह साँची। २/२१/७

— अब आप चिन्ता मत कीजिए, ज्योतिषियों ने बता दिया है कि राज्य तो भरत को ही मिलेगा। अब मैं जैसा कहूँ, बस वैसा करते जाइए। आप महाराज से अपना वह वरदान माँगिए। — कौन सा वरदान? कैकेयी को याद आया कि मेरे पिता ने विवाह के समय महाराज दशरथ से वचन लिया था, बोलीं — मैं महाराज से कहूँगी कि वह वचन पूरा कीजिए, मेरे पुत्र भरत को राज्य दीजिए। मन्थरा ने कहा — नहीं नहीं, ऐसी गल्ती आप भूलकर भी न करें। पहले तो आप कोपभवन में बैठ जाइए। महाराज आपको मनाने आएँगे, लेकिन आप मौन रहिए, कुछ न बोलिए।

जब महाराज दशरथ कैकेयी के पास पहुँचे तो देखा कि कैकेयी चुपचाप बैठी हैं, मौन हैं। महाराज दशरथ उनसे बारम्बार कह रहे हैं —

बार-बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि।
कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर। २/२५

किन्तु कैकेयी नहीं बोल रही हैं। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा — कैकेयी बोल क्यों नहीं रही हैं? गोस्वामीजी ने थोड़ा सा व्यंग्य करते हुए कहा — "कहत सयानन मनहु कछु साधत कपट अज्ञान।" — जो लोक भूत-प्रेत सिद्ध करते हैं, वे साधना करते समय बोलते नहीं। पूछा गया — इनके गुरु कौन हैं, इन्हें मंत्र किसने दिया? तो कहा — इनकी गुरु हैं मन्थरा, इन्होंने मंत्रदीक्षा मन्थरा से ली है। मसान सिद्ध कर रही है, इसलिए मौन व्रत ले रखा है, बोल नही रही हैं।

मन्थरा ने कौन-सा मंत्र दिया है? मन्थरा को कैकेयी और महाराज दशरथ के स्वभावों का बड़ा अच्छा ज्ञान था और वह दोनों की दुर्बलताओं को भी बहुत अच्छी तरह जानती थी। उसने कैकेयी से कहा — क्या आप समझती हैं कि सत्य की रक्षा के लिए महाराज दशरथ राम का त्याग कर देंगे? अगर आप ऐसा समझती हैं तो अब उसे भूल जाइए। महाराज दशरथ सत्य के लिए सब कुछ छोड़ सकते हैं, किन्तु जब राम और सत्य में किसी एक के चुनाव का प्रश्न आयेगा, तो वे सत्य को छोड़कर राम को ही चुनेंगे। मन्थरा को पुराना अनुभव था न! महाराज दशरथ ने पहले तो विश्वामित्र से कह दिया था कि आपको कहने भर की देर है, पर मुझे करने में देर नहीं होगी। पर ज्योंही उन्होंने राम को माँगा, त्योंही इन्कार कर दिया। महाराज दशरथ ने कहा था —

मागहु भूमि धेनु धन कोसा।
सर्वस देउँ आजु सहरोसा।
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं।
सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं।
सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं ।
राम देत नहिं बनइ गोसाईं। २/२०८/३-५

और साथ-ही-साथ यह भी कह दिया —

बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी। २/२०८/२

इसीलिए मन्थरा ने कहा — उनके सामने राम की तुलना सत्य से न करना, वे सत्य के लिए राम को नहीं छोड़ सकते, सत्य को ही राम के लिए छोड़ देंगे। तब क्या करें? बोली — मंत्र मैं बताती हूँ, इसे गुप्त रखना, बोलना मत, मौन रहना। कब तक? बोली —

भूपति राम सपथ जब करई।
तब मागेहु जेहिं बचनु न टरई। २/२२/७

— तब तक चुप रहना, जब तक कि उनके मुँह से राम की शपथ न निकले। जब तक वे तुम्हें प्रसन्न करने के लिए सत्य की दुहाई देते रहें, तब तक चुप रहना। जब वे राम की शपथ लें, तभी बोलना। शपथ माने क्या? शपथ प्रेम का परिचायक है। शपथ के साथ ऐसी धारणा जुड़ी हुई है कि अगर आप किसी प्रिय व्यक्ति की शपथ लेते हैं और वह शपथ अगर झूठी हो जाय, तो वह प्रिय व्यक्ति संकट में पड़ जाता है, उसकी हानि होती है। मन्थरा के कहने का तात्पर्य यह है कि महाराज सत्य की शपथ लेंगे, तो उसे वे राम के लिए तोड़ सकते हैं, फिर भले ही उन पर कितना ही बड़ा संकट क्यों न आ पड़े, पर राम की शपथ लेकर तोड़ना उनके लिए सम्भव नहीं होगा, क्योंकि वे राम पर संकट की कल्पना मात्र से भी काँप उठेंगे। इसलिए जानबूझकर ऐसी स्थिति उत्पन्न करो, उनके मर्मस्थल पर प्रहार करो, रामप्रीति ही उनका मर्मस्थल है, उनकी दुर्बलता है। यह है मन्थरा की कुटिलता और इसी की शिक्षा वह दे रही है अपनी शिष्या कैकेयी को। कह दिया —

भूपति राम सपथ जब करई।
तब मागेहु जेहिं बचनु न टरई। २/२२/७

पाठ पढ़ा दिया मन्थरा ने और कैकेयी ने भी पढ़ लिया बड़ी एकाग्रता से।

इतना तादात्म्य हुआ गुरु-शिष्य के बीच कि कैकेयी के चरित्र में मन्थरा की कुटिलवृत्ति साकार हो उठी।

महाराज दशरथ कैकेयी को मनाने की बारम्बार चेष्टा करते हैं, पर कैकेयी नहीं बोलती। अचानक महाराज दशरथ के मुँह से निकल गया — "भामिनि राम सपथ सत मोही।" — कैकेयी, मैं राम की सैकड़ों शपथ लेता हूँ। बस, यह शब्द जैसे ही कैकेयी के कान में पड़ा, वह खिल उठी। पर महाराज दशरथ को पश्चाताप होने लगा — अरे यह क्या निकल गया मेरे मुँह से। सिर झुका लिया उन्होंने, मुँह फेर लिया, खेद में डूब गये, यह राम की शपथ कैसे निकल गई मेरे मुँह से? उन्होंने कैकेयी से यही कहा —

सत्यमूल सब सुकृत सुहाए।
बेद पुरान बिदित मनु गाए। २/२८/६

— मनु ने कहा है कि सत्य ही धर्म का मूल है। मैं सत्यवादी हूँ, लेकिन तुम्हें अगर थोड़ा भी सन्देह हो तो लो — "तेहिं पर राम सपथ करि आई।" 'करि आई' में एक पश्चाताप का भाव है। मानो अचानक ही मुँह से कोई बात निकल गई हो।

तेहि पर राम सपथ करि आई।
सुकृत सनेह अवधि रघुराई। २/२८/७

— राम मेरे सत्य और प्रेम की सीमा है। अब मेरे सामने सत्य और प्रेम का ऐसा बन्धन हो गया है कि तुम जो कहोगी, उसे मुझे पूरा करना ही पड़ेगा; इसलिए तुम निश्चिन्त होकर बोलो। यह सुनते ही कैकेयी प्रफुल्लित हो उठी। और उठकर सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किया। गोस्वामीजी ने लिखा —

यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि बिहसि उठी मतिमंद।
भूषन सजति बिलोकि मृगु मनहु किराततिनि फंद। २/२६

— जैसे किसी किरातिन ने मृग को फँसाने कि लिए जाल बिछा रखा हो और मृग के जाल में फँस जाने पर वह जिस प्रकार आनन्दित हो उठती है, वैसे ही महाराज दशरथ रूपी मृग को फँसाने के बाद वस्त्राभूषण धारण करके अब कैकेयी प्रसन्न होकर बोलने लगी — महाराज, सबसे बड़ा धर्म तो सत्य है न! महाराज बोले — अवश्य, यह तो रघुवंश की परम्परा है। कैकेयी ने कहा — आप तो जानते है कि इतिहास में जो बड़े सत्यवादी हुए हैं, उन्होंने सत्य की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व तक त्याग कर दिया —

तनु तिय तनय धामु धनु धरनी।
सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी। २/३५/८

शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन, पृथ्वी इन सब को सत्यवादी तृण के समान त्याग देता है। यह जो सत्य की प्रशंसा हो रही है, यह क्या वास्तव में सत्य की प्रशंसा है? इसके पीछे उद्देश्य क्या है? वही मन्थरा की शैली; सत्य की आड़ में महाराज दशरथ को जाल में फँसा लेना, उन्हें एक ऐसी स्थिति में डाल देना कि उनसे जो भी कहा जाय, वे उसे करने को बाध्य हो जायँ। यही पाठ पढ़ाया था मन्थरा ने कैकेयी को। कैकेयी ने कहा — आपने मुझे दो वर देने का वचन दिया था, पता नहीं आपको याद है या नहीं। महाराज दशरथ बोले — हाँ, मुझे याद है, परन्तु दो ही क्यों, दो के बदले चार माँग लो। बोली — बस, दो ही दीजिए, मुझे अधिक का लोभ नहीं है। — क्या चाहिए? बोली — एक तो भरत को राज्य। सुनकर महाराज दशरथ दुःखी नहीं हुए। हाँ, आश्चर्य जरूर हुआ कि जो कैकेयी नित्य कहा करती थी कि राज्य तो राम को ही मिले, वह अचानक भरत के लिए राज्य कैसे माँग बैठी। लेकिन इस माँग से उन्हें कोई दुःख नहीं हुआ। उन्हें तो यही लगा कि राम और भरत तो मेरे लिए दो आँखों के समान है। राजा राम हो चाहे भरत, मेरे लिए तो दोनों समान हैं —

मोरें भरतु रामु दुइ आँखी।
सत्य कहउँ करि संकरु साखी। २/३१/६

और दूसरा वरदान? कैकेयी ने कहा —

मागउँ दूसर बर कर जोरी।
पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी।
तापस बेष बिसेषि उदासी।
चौदह बरिस रामु बनबासी। २/२९/२-३

— राम वन में रहे, तपस्या करें, तपस्वी की तरह रहें। कितनी कुटिलता है इस वाक्य में? कैकेयी यह भी कह सकती थी कि राम को कारागृह में डाल दिया जाय, लेकिन वह जानती थी कि राम के प्रति प्रजा की भावना क्या है। उसे चिन्ता इस प्रश्न की थी कि कहीं प्रजा विद्रोह न कर बैठे। इसलिए उसने जानबूझकर कुटिलतापूर्वक ऐसा वरदान माँगा, जो कहु-न-कहीं धर्मसम्मत भी हो। महाराज दशरथ ने कहा —

करहु राम पर सहज सनेहू।
केहि अपराध आजु बन देहू। २/४६/६

— तुम तो सदा स्नेहपूर्वक यही कहा करती थी कि राम साधु है। आज उसे किस अपराध का दण्ड दे रही हो? उसे वनवास क्यों दे रही हो? कैकेयी ने कहा — मैं कब कह रही हूँ कि राम का कोई अपराध है? मैं उसे कोई दण्ड थोड़े ही दे रही हूँ। बल्कि आपका विवेक कुण्ठित हो गया, आपकी धर्मबुद्धि जड़ हो गई है, इसलिए आप ऐसी बात कर रहे हैं। मैं तो पहले से ही कह रही हूँ कि राम साधु है। इसीलिए तो मैं उसे यह सुअवसर दे रही हूँ कि वह वन में रहकर तपस्या करे। दण्ड नहीं, यह तो पुरस्कार है। राम साधु है, तो साधु को तपस्या करना चाहिए या सिंहासन पर बैठना चाहिए। मैंने तो राम के लिए वनवास माँगकर उसके लिए अनुकूल कार्य किया है। भूल तो आपसे हो रही है। आप साधु को सिंहासन पर बिठाकर उसे धर्म से च्युत करने की चेष्टा कर रहे हैं। मैं तो धर्म की रक्षा करने के लिए व्यग्र हूँ। राम वन में जाकर तप करेंगे। तप से बढ़कर भला क्या यह सिंहासन हो सकता है? तप सिंहासन से बड़ा है, इसलिए बड़े को तप और छोटे भरत को सिंहासन मिले।

कितनी कुटिलतापूर्ण व्याख्या है। और यह व्याख्या केवल कैकेयी की ही नहीं है, आज भी ऐसे अगणित लोग हैं, जो स्वार्थवश धर्म के आदर्श तथा सिद्धान्तों के नाम पर ऐसी ही व्याख्या देते हैं, और कहते हैं कि हम जो कुछ कर या कह रहे हैं, वही धर्म और न्यायसम्मत है। यह कुटिलता की पराकाष्ठा है। इसीलिए गोस्वामीजी कैकेयी के लिए 'कुटिल कुबुद्धि अभागी' शब्द का प्रयोग करते हैं —

कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी।
भइ रघुवंश बेनु बन आगी। २/२७/४
कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहि रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह। २/९१

यह जो मन्थरा और कैकेयी की कुटिलवृत्ति है, वह मानो हमारे जीवन में व्याप्त है, जैसे हम दिखावा तो दया-धर्म का करें और अन्तःकरण में वृत्तियाँ हो स्वार्थ, परपीड़न, असत्य और अन्याय की। इसे ही मानस रोग के सन्दर्भ में गोस्वामीजी ने मन का कोढ़ कहा है और जब यह वृत्ति समाज में फैल जाती है, तब सारा समाज संकट में पड़ जाता है।

दुष्टता कोढ़ है और उसके साथ यह कुटिलता मानो गुप्त कोढ़ है। कोढ़ अगर प्रगट हो, तब तो व्यक्ति उससे बचने की चेष्टा करे, किन्तु दुष्टता जब सत्य-धर्म-न्याय और दया का लबादा ओढकर आती है, तब क्या होता है? तब हम उसे स्वीकार कर लेते हैं। अयोध्या में भी यही हुआ। अयोध्या को इस अनर्थ से उबारनेवाले दो ही पात्र है — एक है श्रीराम और दूसरे भरत। कैकेयी ने महाराज दशरथ से दो महान अनर्थकारी वरदान माँगे और उन्हें मिल भी गये। किन्तु उन दोनों वरदानों को भगवान राम और श्री भरत ने एक नया मोड़ दे दिया। कैकेयी ने भले ही अपने स्वार्थ के लिए महाराज से कुटिलतापूर्वक वरदान माँगे सत्य और धर्म के साथ छल किया, पर भगवान राम ने जब सुना कि मुझे वन जाने के लिए कहा जा रहा है, तो सुनकर वे गद्गद हो गये। उन्होंने तुरन्त कहा —

मुनिगन मिलनु बिसेसि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर। २/४१

— माँ, तुम मुझसे कितना प्रेम करती हो। पिताजी तो मुझे राज्य दे रहे थे, किन्तु तुम मुझे वन भेजकर मुनियों का संग दे रही हो। मुनियों के संग से मेरा कितना बड़ा हित होगा! इसका अभिप्राय क्या है? कुटिलता का उत्तर कुटिलता नहीं, कुटिलता का उत्तर है सरलता। कैकेयी की कुटिलता का उत्तर है भगवान की सरलता। भगवान राम का स्वरूप ही सहज सरल है। सरलता को छोड़कर राम की कल्पना भी नहीं हो सकती। राम सदा सरल हैं, सरलता उनका स्वभाव है। वे सरलता छोड़ ही नहीं सकते। इधर कैकेयी भी अपनी कुटिलता नहीं छोड़ पाती। भगवान राम के सरल शब्दों को सुनकर उसे विश्वास ही नहीं होता कि यह राम की सरलता है, अपितु उसमें उसे राम की चतुराई ही दिखाई पड़ती है और उत्तर में वह फिर एक कुटिल चाल चलती है —

सहज सरल रघुबर बचन कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जल बक्रगति जद्यपि सलिलु समान। २/४२

भगवान राम की बात सुनकर कैकेयी को लगा कि राम ऐसा कहकर मुझे प्रसन्न करने की चेष्टा कर रहा है। इसलिए वह तुरन्त कुटिलतापूर्वक कहती है —

राम सत्य सबु जो कछु कहहु।
तुम्ह पितु मातु बचन रत अहहू। २/४३/४

— धन्य हो राम, तुम धन्य हो! ऊपर से तो राम की प्रशंसा कर रही है, किन्तु मन

में भाव क्या है? यह कुटिलता की पराकाष्ठा है। सत्य, धर्म, महाराज दशरथ, श्रीराम, सबकी प्रशंसा कर रही है, किन्तु इस प्रशंसा का उद्देश्य क्या है? बस सत्य और धर्म के नाम पर राम को दूर हटाकर अपने बेटे को राज्य दिलाना। किन्तु कुटिलता अन्ततः सरलता के सामने पराजित जाती है।

कैकेयी की हार कहाँ पर होती है? महर्षि वाल्मिकि ने जब श्रीराम से कहा — राम, तुम्हें राज्य छोड़कर वन में आना पड़ा। तो इस पर भगवान राम बोले — महाराज, संसार में जितनी भी घटनाएँ होती हैं, उनमें कुछ-न-कुछ हानि-लाभ तो जुड़ा ही रहता है, पर न जाने कैसे यह घटना घट गयी कि मुझे वन में रहने का आदेश मिला। इसमें तो मेरा लाभ-ही-लाभ है, हानि तो कोई है ही नहीं। वाल्मिकिजी ने पूछा — क्या लाभ है? भगवान राम गिनाने लगे — तात वचन — पिताजी के सत्य की रक्षा हुई। समाज के सामने इस आदर्श की पुष्टि हुई कि पिता के वचन की रक्षा के लिए अपने प्रिय-से-प्रिय वस्तु को भी छोड़ देना चाहिए। समाज को धर्म पालन करने की प्रेरणा मिली। मातु हित — मेरी माँ के अन्तःकरण में प्रसन्नता हुई। जिस माँ ने जीवन भर मेरी प्रसन्नता का ध्यान रखा, उसको अगर मेरे किसी एक कार्य से, मेरे वन आने से प्रसन्नता हुई, तो यह मेरा सौभाग्य है। यह मेरा दूसरा बड़ा लाभ है। वाल्मिकिजी ने कहा — एक व्यक्ति को भले ही प्रसन्नता हुई हो, पर लाखों प्रजा तुम्हें राजा के रूप में देखना चाहती थी, उनका भी सुख तो तुम्हें देखना चाहिए था। भगवान राम तुरन्त बोले — महर्षि, आपसे अधिक कोई नहीं जानता कि प्रजा को मुझसे भी अच्छा राजा मिला है। — कौन? बोले —

तात वचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ। २/१२५

— भाई भरत जैसा राजा। आप विश्वास कीजिए, भरत से अच्छा राज्य मैं नहीं चला सकता। महर्षि वाल्मीकि ने मुस्कराते हुए कहा — बड़े चतुर व्याख्याकार हो। इन सबको लाभ हुआ, पर तुम्हें तो दुःख मिला न? भगवान राम ने कहा —

मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मन पुन्य प्रभाउ। २/१२५

— बताइए, माँ ने अगर मुझे वन में न भेजा होता, तो आप जैसे सन्त के दर्शन कैसे मिलते? महर्षि वाल्मीकि ने प्रभु को अपने हृदय से लगा लिया। बोले — अब तुम्हें कोई दुःख नहीं दे सकता। जो इतनी अच्छी व्याख्या कर सकता है, दुष्ट व्यक्ति की दुष्टता और कुटिलतापूर्ण चेष्टा में भी हित की प्रेरणा ले सकता है, उसे भला कौन दुःख दे सकेगा!

दूसरा वरदान था — राज्य भरत को मिले। इसका उत्तर स्वयं भरत ही देते हैं। कैकेयी जो अनर्थ कर रही है, वह सब श्री भरत के लिए है। भरत के सामने भी वही धर्मसंकट उपस्थित किया गया, माता-पिता की आज्ञा का पालन करना पुत्र का धर्म है। श्री भरत ने क्या किया? वही सूत्र। सरलता की मूर्ति हैं श्रीराम और श्रीराम की प्रतिमूर्ति है श्री भरत। कैकेयी की कुटिलता का उत्तर दिया भगवान श्रीराम ने अपनी सरलता के द्वारा, और श्री भरत ने सज्जनता के द्वारा। जब कोई कहता है कि दुष्ट के प्रति दुष्टता ही करनी चाहिए, तो इसका फल क्या होगा? दो दुष्टों में युद्ध होगा। जीतेगा कौन? वही, जो अधिक दुष्ट होगा। अन्त में विजय किसकी हुई? दुष्ट की और दुष्टता की। यह तो कोई नीति नहीं हुई। समाज को तो दुष्टता की नहीं, सज्जनता की विजय चाहिए। अतः जब दुष्टता पर सज्जनता की विजय होगी, तभी समाज का हित होगा। भगवान श्रीराम और श्रीभरत के द्वारा यही आदर्श प्रस्तुत किया गया है। यह सरलता ही भक्ति का सर्वश्रेष्ठ और सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण है। मानस-रोगों के प्रसंग में आगे कहा गया है कि भक्ति ही समस्त रोगों की सर्वश्रेष्ठ दवा है। भगवान श्रीराम ने पुरवासियों से भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा कि भक्ति से सरल और कोई मार्ग नहीं है। क्यों? बोले —

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न मख जप तप उपवासा। ७/४६/१

तो फिर भक्ति क्या है —

सरल सुभाव न मन कुटिलाई।
जथा लाभ संतोष सदाई। ७/४६/२

— जो सरल है, जिसके अन्तःकरण में कुटिलता नहीं है, वही भक्त है। अभिप्राय यह है कि कुटिल व्यक्ति दूसरों को कष्ट देकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करता है और सरल व्यक्ति सरलता का, सहज आनन्द का, भक्ति का रस लेकर तृप्त भी होता है और इस भक्ति रूपी औषधि के द्वारा मन के रोगों का निवारण भी करता है।
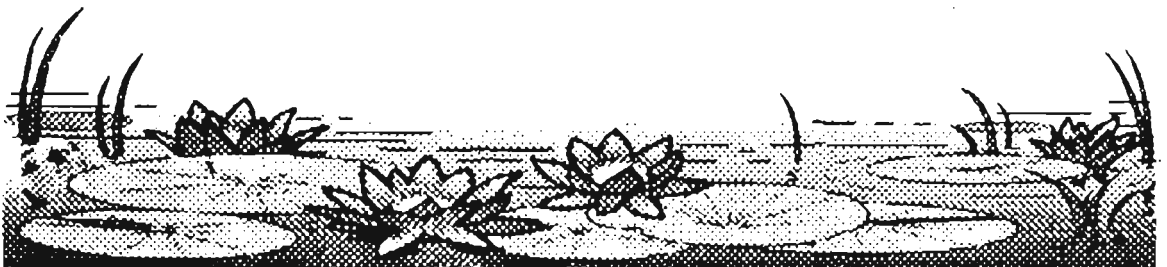
एक अपील

रामकृष्ण मठ
पो. बेलुड़ मठ, जि. हा
(प. बंगाल) ७११ २०२

जैसा कि आप में से अधिकांश लोग जानते हैं कि विश्वव्यापी रामकृष्ण भावधारा के संस्थापकों की पवित्र स्मृतियों के संरक्षणार्थ बेलुड़ मठ में एक संग्रहालय की स्थापना की गयी है, जिसका उद्घाटन १३ मई, १९९४ ई. को संघाध्यक्ष श्रीमत स्वामी भूतेशानन्दजी के हाथों सम्पन्न हुआ था।

श्रीरामकृष्ण, माँ सारदादेवी, स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों द्वारा उपयोग में लाये गये वस्त्र, पादुकाएँ तथा अन्य वस्तुएँ; उनके द्वारा लिखित पत्र और उनके द्वारा पढ़ी गयी पुस्तकों आदि को संग्रहालय में प्रदर्शित किया गया है। संग्रहालय से संलग्न अत्याधुनिक पुराभिलेखागार में उपरोक्त वस्तुओं को आधुनिकतम तकनीक की सहायता से संरक्षित किया जाता है। हमें आपको यह भी सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि विगत ४ फरवरी १९९६ को पूज्य संघाध्यक्ष महाराज ने एक नये तकनीकी दृष्टि से नियोजित, विशाल संग्रहालय तथा पुराभिलेखागार भवन की आधारशिला रखी।

वैसे अनेक व्यक्ति तथा संस्थाएँ अपने पास पड़ी ऐसी वस्तुएँ हमें दे रहे हैं, तथापि हम एक बार पुनः हम अपने भक्तों, संस्थाओं तथा जनसाधारण से यह अपील करते हैं कि वे अपने पास पड़ी इस तरह की किसी भी स्मरणीय वस्तु को बेलुड़ मठ के ट्रस्टियों अथवा अपने निकट स्थित हमारे किसी भी शाखाकेन्द्र को सौंप दें। हम एक बार पुनः दुहराते हैं कि यदि ये वस्तुएँ वैज्ञानिक पद्धति से संरक्षित नहीं की गयीं, तो वे समय के आघात को नहीं झेल सकेंगी और सदा के लिए दुनिया से विलुप्त हो जायेंगी। हम आपके हार्दिक सहयोग की अपेक्षा करते हैं और हम इसके लिए चिर आभारी रहेंगे।

पुराभिलेखागार के कार्य, प्रस्तावित भवन का मॉडल तथा प्रदर्शित वस्तुओं के नमूनों के आधार पर बनायी गयी १५ मिनट का एक वीडिओ कैसेट विक्रय के लिए उपलब्ध है, जिसे रामकृष्ण संग्रहालय, बेलुड़ मठ और हमारे कुछ भारतीय तथा विदेश में स्थित केन्द्रों से प्राप्त किया जा सकता है।

स्वामी आत्मस्थानन्द
महासचिव

१७.६.१९९६

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण (२)

कुमुदबन्धु सेन

(स्वामीजी से सम्बन्धित निम्नोक्त स्मृतियाँ बँगला मासिक 'उद्बोधन' में प्रकाशित होकर 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी' नामक ग्रन्थ में संकलित हुई हैं। प्रस्तुत है उसी के उत्तरार्ध का हिन्दी अनुवाद। - सं.)

१८९७ ई. में स्वामीजी चिकित्सकों की सलाह पर जलवायु में परिवर्तन के लिए दार्जिलिंग गये थे। २० मार्च को मैंने पूज्यपाद स्वामी योगानन्द से सुना कि स्वामीजी अगले दिन दार्जिलिंग मेल से कलकत्ता पहुँच रहे हैं। सहसा उनके लौटने का कारण पूछने पर उन्होंने बताया, ''महारानी विक्टोरिया की हीरक जयन्ती समारोह के उपलक्ष्य में अन्य राजाओं के साथ खेतड़ी के महाराजा भी इंग्लैण्ड जानेवाले हैं। उनकी इच्छा अपने गुरुदेव को भी साथ ले जाने की है। समुद्री जलवायु से अपने स्वास्थ्य में सुधार की सम्भावना को देखते हुए स्वामीजी भी उनके साथ जाने के इच्छुक हैं।''

२१ मार्च को दार्जिलिंग मेल के पहुँचने के समय मैंने सियालदह स्टेशन पर पहुँचकर देखा तो वहाँ बड़ा ही अद्भुत दृश्य था। बड़ाबाजार का प्रायः सम्पूर्ण मारवाड़ी समाज वहाँ उपस्थित था। उनमें से अनेक खेतड़ी नरेश की प्रजा थे। गाड़ी से स्वामीजी के प्लेटफार्म पर उतरते ही महाराजा अजीत सिंह ने उन्हें प्रणाम करके पुष्पमाला से भूषित किया। अंग्रेजी में एक छोटा-सा अभिनन्दन-पत्र भी पढ़ा गया।स्वामीजी ने दो-चार वाक्यों में ही बड़े संक्षेप में उन्हें धन्यवाद देते हुए उत्तर दिया। तत्पश्चात् वे महाराजा के साथ उनके बड़ाबाजार के निवास स्थान पर चले गये। सुनने में आया कि उसी दिन संध्या को स्वामीजी खेतड़ी नरेश को साथ लेकर दक्षिणेश्वर तथा आलमबाजार मठ जायेंगे।

उस दिन अपराह्न में मैं शेयर की गाड़ी में आलमबाजार जा रहा था, तभी पूजनीय मास्टर महाशय (श्री म) से भेंट हो गयी। गाड़ी के वराहनगर पहुँचने पर उन्होंने गाड़ीवान को हमें दक्षिणेश्वर पहुँचा देने को कहा। हम लोग जब दक्षिणेश्वर पहुँचे, तब स्वामीजी और अपने सचिव के साथ महाराजा अजीतसिंह काली-मन्दिर तथा राधाकान्त के मन्दिर में दर्शन करके श्रीरामकृष्णदेव के कमरे की ओर जा रहे थे। मास्टर महाशय के साथ ही मैंने भी उनका अनुसरण किया। ठाकुर के कमरे

में उनका चित्र फूलों से सजा हुआ था। जिस छोटी-सी खाट पर वे बैठा करते थे, वह भी पुष्पमालाओं से सुशोभित हो रही थी। श्रीरामकृष्ण के भतीजे रामलाल दादा आदि भी वहाँ आ पहुँचे। कमरे में जाते ही स्वामीजी उसके एक छोर से दूसरे छोर तक लोटकर साष्टांग प्रणाम करने लगे। खेतड़ी के राजा तब द्वार के सम्मुख खड़ रहे। किसी ने भी कमरे के भीतर प्रवेश करने का साहस नहीं किया। स्वामीजी ने इस प्रकार तीन बार लोटकर, साष्टांग प्रणाम किया। तदुपरान्त वे हाथ जोड़कर ठाकुरजी के सामने एक किनारे खड़े हो गये और भावविभोर होकर निर्मिमेष नेत्रों के साथ उनकी ओर देखने लगे। इसके बाद खेतड़ी के महाराजा आदि सभी स्वामीजी के आदर्श का अनुकरण करते हुए लोट-लोटकर प्रणाम करने लगे। सबका प्रणाम हो जाने पर स्वामीजी खेतड़ीनरेश को पंचवटी की ओर ले गये।

पंचवटी के नीचे पहुँचकर स्वामीजी एक अपूर्व भाव में विभोर हो गये। पंचवटी की प्रदक्षिणा करने के बाद उन्होंने बैठकर थोड़ा सा ध्यान किया। इसके उपरान्त वे बालक के समान आनन्द व्यक्त करते हुए पंचवटी के एक वृक्ष की डाल पर बैठकर झूलने लगे। महाराजा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, "श्रीरामकृष्ण जब यहाँ निवास करते थे, उन दिनों हम लोग इसी प्रकार पेड़ों पर झूलते थे, आनन्द मनाते थे। आज वे ही बातें स्मृतिपटल पर उदित हो रही हैं। देखिए इस गंगातट का दृश्य कैसा अपूर्व है, कितना सुन्दर परिवेश है!" बाद में वहीं पर सभी लोग स्वामीजी के साथ बैठकर ध्यान करने लगे। लगभग आधे घण्टे के बाद स्वामीजी उठे और पुनः ठाकुर के कमरे के उत्तरी ओर के बरामदे में जाकर खड़े हुए।

उसी समय रामलाल दादा आदि पुरोहितगण ने एक नारियल यज्ञोपवीत से लपेटकर स्वस्तिवचन का पाठ करते हुए उसे पुष्पमाला के साथ महाराजा अजीतसिंह को अर्पित किया। उन्होंने भी नतमस्तक होकर उसे ग्रहण किया और अपनी श्रद्धा निवेदित की। उसी समय एक सुन्दर गौरवर्ण बलिष्ठ युवक ने आकर स्वामीजी को प्रणाम कर उनकी चरणधूलि ग्रहण की। स्वामीजी उसकी ओर देखकर बोले, "क्यों रे, तेरे पिताजी कहाँ हैं?" बालक ने उत्तर दिया, "कोठी के बैठकखाने में बैठे हुए हैं।" "तेरे पिता आये क्यों नहीं?" बालक ने कोई उत्तर नहीं दिया। इतनी बात करने के बाद स्वामीजी महाराजा को साथ लिए गाड़ी में आलमबाजार मठ की ओर चले गये। बाद में सुना कि वह युवक त्रैलोक्यनाथ विश्वास का पुत्र था।

जब मैं भी मास्टर महाशय के साथ आलमबाजार पहुँचा, इस समय मठ के पूजागृह में पूज्यपाद स्वामी प्रेमानन्द ठाकुरजी की आरती कर रहे थे। मठ के साधु-

ब्रह्मचारिगण समवेत कण्ठ से स्तोत्रों का गायन कर रहे थे। बीच-बीच में स्वामीजी के 'जयगुरु', 'जयगुरु' के हुंकार से सबके हृदय अपूर्व आध्यात्मिक भावतरंगों से उद्वेलित हो रहे थे। आरती समाप्त हो जाने पर स्वामीजी, राजा अजीत सिंह तथा बाकी सबने मन्दिर में साष्टांग प्रणाम किया। तदुपरान्त महाराजा तथा गुरुभाइयों को साथ लेकर स्वामीजी मठ के बाहरी हिस्से के लम्बे कमरे में आसीन हुए। मास्टर महाशय तथा मैं भी वहाँ जाकर बैठ गये स्वामीजी ने मास्टर महाशय के साथ खेतड़ीनरेश का परिचय करा दिया। ठाकुर का प्रसंग तथा स्वामीजी के स्वास्थ्य को लेकर बातें होने लगीं। स्वामीजी ने कहा, "मेरी तो इच्छा थी कि महाराजा के साथ विलायत चला जाऊँ। जहाज में समुद्री वायु से स्वास्थ्य में सुधार हो सकता है। सभी बड़े-बड़े डॉक्टरों को दिखाकर उनका मत लिया गया, परन्तु कोई भी मेरे जाने का अनुमोदन नहीं कर रहा है। बल्कि वे लोग तो यथाशीघ्र अल्मोड़ा जाने को कह रहे हैं, क्योंकि वर्षाकाल में दार्जिलिंग की आबो-हवा ठीक नहीं रहती।"

अजीतसिंह बोले, "मेरा तो विश्वास है कि स्वामीजी के वर्तमान स्वास्थ्य के लिए समुद्र-भ्रमण काफी अच्छा रहेगा। परन्तु चिकित्सकों का मत मेरी समझ में नहीं आ रहा है। अस्तु, कल अंग्रेज डॉक्टर जो कहेंगे, वही किया जायगा।"

तत्पश्चात् दो-एक भजन गाने के बाद स्वामीजी खेतड़ी-महाराजा के साथ उनके निवास स्थान पर चले गये। उनके साथ प्रसाद भी भेजा गया। मास्टर महाशय तथा मैं धीरे-धीरे आलमबाजार मठ से वराहनगर तक पैदल ही चले आये।

अगले दिन अपराह्न के समय मैं (बोसपाड़ा के) श्री माँ के घर में पूज्यपाद योगीन महाराज के पास बैठा था। उसी समय एक वृद्ध साधु — दीनू महाराज आकर बोले, "स्वामीजी अकेले आ रहे हैं।" उनकी बात पूरी होते-न-होते स्वामीजी आ पहुँचे। योगानन्दजी ने उन्हें देखकर आनन्दपूर्वक कहा, "तुम आ सके हो?"

स्वामीजी बोले, "मेरा विलायत जाना नहीं हो सका। सभी चिकित्सक — यहाँ तक कि शशी और विपिन डॉक्टर भी मना कर रहे हैं। उनकी सलाह है कि मैं अल्मोड़ा चला जाऊँ। राजा (स्वामी ब्रह्मानन्द) आदि सबको साथ लेकर कल मैं दार्जिलिंग जा रहा हूँ। दो-चार दिनों में लौट आऊँगा। एक बार माँ को प्रणाम करता जाऊँ।"

योगीन महाराज ने गोलाप-माँ को पुकारकर कहा, "स्वामीजी आये हैं, माताजी का दर्शन करेंगे।" इसके उपरान्त स्वामीजी माँ का दर्शन करने चले। हम दो-एक लोगों ने उनका अनुसरण किया। स्वामीजी तिमंजले पर जाकर माँ के कमरे के

सम्मुख बरामदे में खड़े रहे। हम लोगों की ओर उन्मुख होकर वे खूब धीमे स्वर में बोले, "तुम लोग साष्टांग प्रणाम करना, माँ के पादपद्म स्पर्श मत करना। वे इतनी करुणामयी हैं कि स्पर्श करते ही सारा पाप-तप ग्रहण कर लेती हैं।"

गोलाप-माँ ने कहा, "नरेन, माँ आकर खड़ी हैं।" इसके साथ ही स्वामीजी दोनों बाहु प्रसारित करके लोट गये और साष्टांग प्रणाम किया। द्वार के सम्मुख माँ खड़ी थीं। धीरे-धीरे उठकर वे बोले, "माँ, कल फिर दार्जिलिंग जा रहा हूँ।"

श्री माँ ने धीमे स्वर में कहा, "दार्जिलिंग में कैसे रहे बेटा?"

स्वामीजी ने कहा, "माँ, वहाँ बड़ी अच्छी देखरेख में था। लगता है कि अब स्वास्थ्य काफी अच्छा है। वहाँ पर महेन्द्रबाबू तथा उनकी पत्नी ने मुझे बड़े यत्नपूर्वक रखा था। इस गर्मी में दार्जिलिंग खूब ठण्डा है और वहाँ भ्रमण करने में बड़े आनन्द का बोध होता है। आजकल मैं खूब टहलता हूँ। खेतड़ी-महाराजा ने मुझे विलायत ले जाने को मुझे पत्र लिखकर उलझन में डाल दिया था। परन्तु यहाँ के सभी डॉक्टरों ने मुझे विलायत जाने से मना किया है। वे लोग मुझे अल्मोड़ा-नैनीताल जाने को कह रहे हैं। अतः शीघ्र ही दार्जिलिंग से लौट आऊँगा। माँ, आशीर्वाद दीजिए कि ठाकुर का जो कार्य मैंने आरम्भ किया है, उसे पूरा कर सकूँ।"

माँ ने धीमे स्वर में उत्तर दिया, "बेटा, ठाकुर तुम्हें देख रहे हैं। उन्हीं की शक्ति तुम्हारे भीतर कार्य कर रही है। वे अपने कार्य के लिए ही तुम्हें लाये हैं।"

स्वामीजी ने कहा, "माँ, ठाकुर तो मुझे देख ही रहे हैं। तुम भी मुझ पर आशीर्वाद करो, कृपा करो। ठाकुर और तुम्हारी कृपा ही मेरा सम्बल है।"[१]

---

१. अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के अक्तूबर, १९५२ अंक में लेखक ने इस वार्तालाप का कुछ और भी विवरण दिया है, जो इस प्रकार है –
गोलाप-माँ – माँ कह रही है कि ठाकुर सर्वदा ही तुम्हारे साथ है। जगत् के कल्याण हेतु तुम्हें और भी बहुत से कार्य करने होंगे।

स्वामीजी – हाँ, मैं स्पष्ट रूप से देख रहा हूँ और अनुभव कर रहा हूँ कि मैं ठाकुर का एक यंत्र मात्र हूँ। कभी-कभी तो मैं स्वयं ही यह सोचकर विस्मित रह जाता हूँ कि किस प्रकार ये अद्भुत महान कार्य होते जा रहे हैं और किस प्रकार पाश्चात्य देशों के नर-नारी इस सत्कार्य तथा ठाकुर के भावप्रचार में मेरी सहायता करने को स्वेच्छया ही अपना जीवन अर्पित करने को प्रस्तुत है। मैं माँ का आशीर्वाद लेकर ही अमेरिका गया था और जब मुझे अपने व्याख्यानों द्वारा वहाँ के लोगों को प्रभावित करने में सफलता मिली तथा उनका हार्दिक सम्मान प्राप्त हुआ, तो मुझे स्मरण हो आया कि माँ के आशीर्वाद की शक्ति से ही यह चमत्कार हो

स्वामीजी ने "जय माँ, जय माँ" — कहते हुए पुनः साष्टांग प्रणाम किया।

गोलाप-माँ ने स्वामीजी को सम्बोधित करते हुए कहा, "माँ प्रसाद दे रही हैं।" स्वामी योगानन्द वहीं खड़े थे, बोले, "यह प्रसाद स्वामीजी की गाड़ी में रख दो।"

स्वामीजी नीचे आकर बोले, "भाई योगेन, मैं चलता हूँ। फिर आऊँगा। अब लौटकर कार्य शुरू करने के बाद ही मेरा अन्यत्र जाना होगा। डॉक्टर लोग चाहे जो भी कहें, कार्य शुरू किये बिना मैं और कहीं नहीं जाऊँगा।" हम सबने स्वामीजी को प्रणाम किया और वे खेतड़ी महाराजा की गाड़ी में चले गये।

❑ ❑ ❑

'उद्‌बोधन' पत्रिका के प्रथम प्रकाशन का दिन (१४ जनवरी, १८९९ ई.)

सका है। एकान्त में विश्राम करते समय स्पष्ट अनुभव होता था कि ठाकुर जिसे 'जगदम्बा' कहा करते थे, वहीं दिव्य शक्ति मेरा पथ-प्रदर्शन कर रही है।

गोलाप-माँ ने माताजी के उत्तर से अवगत कराते हुए कहा — ठाकुर जगदम्बा से पृथक या भिन्न नहीं हैं। वे ही तुम्हारे माध्यम से ये समस्त महान कार्य सम्पन्न कर रहे हैं। तुम्हीं उनके चुने हुए शिष्य तथा सन्तान हो। तुम्हारे प्रति उनका अगाध स्नेह था और उन्होंने सबके समक्ष भविष्यवाणी की थी कि एक दिन तुम जगत के महान आचार्य बनोगे।

स्वामीजी ने तीव्र भावावेगपूर्वक कहा -- माँ, मैं उनके सन्देश का प्रचार करना चाहता हूँ और इसी उद्देश्य से यथाशीघ्र एक उपयुक्त तथा स्थायी संगठन स्थापित करना चाहता हूँ। परन्तु अपनी इच्छा के अनुरूप गति से कार्य न कर पाने के कारण निराशा होती है।

माँ ने स्वयं ही वात्सल्यपूरित कोमल स्वर में कहा -- इसके लिए तुम चिन्ता मत करो। तुमने जो कुछ किया है। और करोगे, वह चिरस्थायी होगा। इसी कार्य, इसी उद्देश्य से तुमने जन्म लिया है। पृथ्वी के हजारों-लाखों लोग तुम्हें एक प्रबुद्ध आचार्य के रूप में स्वीकार करेंगे। निश्चित जानो कि ठाकुर शीघ्र ही तुम्हारी कामना पूर्ण करेंगे। थोड़े ही दिनों में देखोगे कि तुम्हारे विचार कार्यरूप में परिणत हो रहे हैं।

प्रार्थना के स्वर में स्वामीजी ने कहा — माँ, आशीर्वाद दीजिए कि मैं अपनी कार्ययोजना को यथाशीघ्र साकार होते देख सकूँ। दो-एक दिनों में दार्जिलिंग लौट जाऊँगा। खेतड़ी महाराजा के अनुरोध पर ही मैं कलकत्ता चला आया था। इतना कह कर स्वामीजी ने माँ को श्रद्धापूर्वक पुनः साष्टांग प्रणाम किया और विदा ली। ...

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ दिनों बाद ही स्वामीजी दार्जिलिंग से कलकत्ता लौटे और माताजी के आशीर्वाद से शीघ्र ही १ मई १८९७ ई. को रामकृष्ण मिशन की स्थापना करके उन्होंने अपने विचारों को मूर्त रूप प्रदान किया।

अब भी मेरे स्मृतिपटल पर स्पष्ट रूप से भासित हो रहा है। उस दिन कतिपय शिक्षित बंगाली युवकों के हृदय में क्या ही अदम्य उत्साह, महोच्च आदर्श, तड़ित्सम प्रेरणा तथा विशुद्ध आनन्द का संचार हुआ था! स्वामीजी द्वारा लिखित प्रस्तावना को पढ़कर उनके नेत्रों के सम्मुख भावी बंगाल तथा भारत का एक भव्य चित्र प्रकट हुआ था। एक लघु पाक्षिक — जिसकी पूँजी अल्प, दफ्तर दूसरे के घर में तथा छापाखाना छोटा-सा था, तथापि उसके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना प्रस्फुटित होने लगी थी। कारण स्वरूप इसके पीछे विद्यमान थी श्रीरामकृष्ण की प्रबल आध्यात्मिक महाशक्ति, स्वामी विवेकानन्द की अपूर्व प्रेरणा तथा उत्साहोद्दीपक सन्देश और साथ ही सर्वत्यागी परहितकामी रामकृष्ण संन्यासी-संघ का सुदृढ़ संकल्प, निष्काम कर्मठता तथा असाधारण अध्यवसाय।

'उद्‌बोधन' के प्रतिष्ठाता तथा प्रथम सम्पादक स्वामी त्रिगुणातीतानन्द की बात याद आती है। ... पत्रिका में किसी प्रकार की कोई त्रुटि, प्रुफ की गलती अथवा अशुद्ध शब्द या भाव का प्रयोग दिख जाने पर स्वामी त्रिगुणातीतानन्द को (स्वामीजी की) विशेष नाराजगी झेलनी पड़ती थी। पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्द की इस ओर बड़ी तीक्ष्ण दृष्टि थी। एक दिन मुझे इसी तरह की एक घटना देखने को मिली थी। 'प्राध्यापक मैक्समूलर तथा श्रीरामकृष्ण' विषयक स्वामीजी द्वारा लिखित एक प्रबन्ध हाल ही के उद्‌बोधन में प्रकाशित हुआ था। श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि के उपलक्ष्य में स्वामी त्रिगुणातीत बेलुड़ मठ में आये हुए थे। जब वे स्वामी विवेकानन्द के सम्मुख उपस्थित हुए, तो उन्हें देखते ही 'उद्‌बोधन' में प्रकाशित अपने लेख के मुद्रण में हुई त्रुटियों का उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने उनकी अच्छी खबर ली। स्वामी त्रिगुणातीत ने कहा, "कैसे अशिक्षित लोगों को लेकर कार्य करना पड़ता है, यह तो तुम समझना ही नहीं चाहते।" स्वामीजी बोले, "रहने दे ये सब बातें! जब तुम लोगों ने एक कार्य हाथ में लिया है तो उसमें गल्तियाँ क्यों रहेंगी? क्या उन लोगों को शिक्षित करने का तुमने प्रयास किया था? इस देश में सभी अपनी गल्तियाँ छिपाने के लिये बहाने-पर-बहाने बनाते रहते हैं। उन देशों के भी कम्पोजीटर विद्वान नहीं होते — पर जो व्यवस्थापक हैं, जो लोग कार्य का उत्तरदायित्व ग्रहण करते हैं, वे उसे ठीक ढंग से कराने का प्रयास करते हैं। जब तक वह पूरी तौर से त्रुटिरहित नहीं हो जाता, तब तक वे उसे कदापि नहीं छोड़ते। इस देश में देखता हूँ कि किसी तरह छप जाने से ही हुआ — उसमें भूल-त्रुटियाँ हैं, तो रहें। एक भी शब्द इधर-उधर हुआ नहीं कि लेख का भाव या अर्थ बिल्कुल उलट जाता है।

कितनी सावधानी से प्रुफ देखना पड़ता है। तुम लोग यदि पत्रिका में गल्तियाँ छापो, तो फिर बताओ उन्नति ही क्या हुई?"

स्वामी त्रिगुणातीत ने कोई उत्तर नहीं दिया। प्रेस तथा पत्रिका — दोनों के लिए ही उन्हें बड़ा कठोर परिश्रम करना पड़ रहा है — विशेषकर कम्पोजीटर आदि की तलाश में उन्हें बस्ती-बस्ती घूमना पड़ता है — इसे सुनकर गिरीशचन्द्र घोष ने स्वामी विवेकानन्द से विशेष अनुरोध किया कि वे प्रेस को बेच डालें। आखिरकर प्रेस बिक गया। इसके बाद स्वामी त्रिगुणातीत ने पत्रिका के ग्राहकों की संख्या बढ़ाने की ओर ध्यान दिया।

आज जो बोलचाल की भाषा में साहित्य का प्रसार हो रहा है — इसके पीछे स्वामीजी की बँगला रचनाओं ने ही प्रेरणा जुटाने का कार्य किया था। 'उद्बोधन' में प्रकाशित उनकी 'प्राच्य और पाश्चात्य', 'चिन्तनीय बातें' तथा 'परिव्राजक' आदि रचनाएँ बाद में पुस्तकाकार मुद्रित होकर हजारों शिक्षित लोगों को प्रेरणा देती रहीं। इस प्रसंग में एक घटना का उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक न होगा। 'बंगदर्शन' पत्रिका के द्वितीय आविर्भाव के कुछ दिन बाद स्वर्गीय रायबहादुर दिनेशचन्द्र सेन एक दिन रात के आठ बजने के बाद वर्तमान के लेखक के पास आकर 'प्राच्य और पाश्चात्य' ग्रन्थ माँगने लगे। लेखक ने कहा, "क्यों! पहले जब मैंने कई बार आपसे उसे पढ़ने का आग्रह किया, यह कहकर बारम्बार अनुरोध किया कि उसे पढ़कर देखिए कि स्वामीजी ने किस प्रकार प्राणवन्त जीवन्त बोलचाल की भाषा के माध्यम से बँगला साहित्य को एक नया रूप दिया है, तो भी आपने उसे नहीं पढ़ा। आज सहसा उसकी ऐसी क्या आवश्यकता आ पड़ी?" दिनेशचन्द्र बोले, "मैं अभी-अभी रविबाबू (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) के पास से चला आ रहा हूँ। आज रविबाबू विवेकानन्द की 'प्राच्य और पाश्चात्य' पुस्तक की बड़ी प्रशंसा कर रहे थे। मैंने उसे पढ़ा नहीं है — यह सुनकर वे विस्मित हुए और बोले, 'आप अभी जाकर विवेकानन्द की वह पुस्तक पढ़िए। उसे पढ़कर आप समझेंगे कि किस प्रकार बोलचाल की भाषा प्राणवन्त रूप में अभिव्यक्त हो सकती है। उसके जैसे भाव है, वैसी ही भाषा है और वैसे ही उसमें सुक्ष्म उदार दृष्टि तथा पूर्व-पश्चिम के समन्वय का आदर्श देखकर अवाक् रह जाना पड़ता है।' इसके अतिरिक्त वे अन्य प्रकार से भी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।" दिनेशबाबू मुझसे वह पुस्तक लेकर चले गये।

□

अपील

श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर,
मद्रास - ६००००४

स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से १८९७ ई० में इस मठ की स्थापना हुई। अगले वर्ष यह अपने बहुमुखी सेवाकार्यों की शताब्दी मनाने जा रहा है। भक्तों एवं अनुरागियों की बहुत दिनों से इच्छा के रूपायन हेतु इस मठ में श्रीरामकृष्ण का एक भव्य मन्दिर बनाने का कार्य आरम्भ हुआ है। समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण का जीवन तथा सन्देश जैसे वर्तमान युग के सभी धर्मों के अनुयायियों के लिये प्रेरणाकेन्द्र है, वैसे ही उनका यह मन्दिर भी एक सार्वभौमिक उपासना का स्थान होगा।

श्रीरामकृष्ण के अन्य मन्दिरों तथा परम्परागत दक्षिण भारतीय स्थापत्य के सम्मिश्रण से बन रहे इस मन्दिर में लगभग १००० भक्त एक साथ बैठकर प्रार्थना तथा ध्यान कर सकेंगे। ग्रैनाइट पत्थर से बननेवाले इस मन्दिर पर लगभग चार करोड़ रुपयों की लागत आयेगी।

रामकृष्ण संघ के वर्तमान अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने १ दिसम्बर, १९९४ ई० को मन्दिर की आधारशिला रखी। निर्माण-कार्य आरम्भ हो चुका है और सन्तोषजनक रूप से प्रगति पर है।

इस विराट् पुनीत कार्य में समाज के सभी स्तर के लोगों की शुभेच्छा तथा सहयोग की अपेक्षा है। उदारतापूर्वक दान के द्वारा इस परियोजना में हाथ बँटाने के लिए हम आप सभी को आमंत्रित करते हैं। आपका दान कृतज्ञता के साथ स्वीकृत एवं सूचित किया जायगा। रेखांकित चेक या ड्राफ्ट 'RAMAKRISHNA MATH, MADRAS' के नाम से बनवाकर भेजे जा सकते हैं। ये दान धारा ८०- G के अन्तर्गत आयकर से मुक्त होंगे।

स्वामी गौतमानन्द
अध्यक्ष

सम्पर्कसूत्र : श्री रामकृष्ण मठ, मयलापुर, मद्रास-4
Phone : 494 1959; Fax 493 4589

श्री चैतन्य महाप्रभु (३३)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्री श्री चैतन्यदेव' ग्रन्थ महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक रचना मानी जाती है। उसी का हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। -सं.)

राय रामानन्द के एक छोटे भाई राजा प्रतापरुद्र के अधीनस्थ मालजाठा नामक स्थान के शासन व राजस्व संग्रह का कार्य करते थे। उनका नाम गोपीनाथ पट्टनायक था। खर्चीले स्वभाव के होने के कारण गोपीनाथ प्रजा से नियमित कर वसूलने के बावजूद राजा को पूरा राजस्व नहीं चुका पाते थे। प्रति वर्ष थोड़ा-थोड़ा बाकी पड़कर क्रमशः उन पर राजकोष के दो लाख रुपये उधार हो गये। ज्येष्ठ राजकुमार ही इन सब विषयों की देखभाल करते थे। गोपीनाथ से उन पर बाकी राजस्व किसी भी प्रकार वसूलने में असफल होकर वे उन्हें बन्दी बनाकर पुरी ले आये। देय राशि को चुकाने के लिए गोपीनाथ पर दबाव डाला गया और विविध प्रकार के उत्पीड़न का भय दिखाया गया। गोपीनाथ के पास बहुत-से घोड़े थे। और कोई उपाय न देख आखिरकार उन्होंने प्रस्ताव रखा कि राज-सरकार उनके घोड़े उचित मूल्य पर ले लें और बाकी राशि वे धीरे-धीरे अदा कर देंगे। बड़े राजकुमार के इस प्रस्ताव पर सहमत हो जाने पर घोड़ों की कीमत आँकने के लिए एक अन्य राजकुमार को लाया गया। वे इस विषय के विशेषज्ञ थे। घोड़ों को भली-भाँति देखकर भी जब उन्होंने उनके उचित मूल्य से काफी कम कीमत निर्धारित किया, तो गोपीनाथ के मन में क्रोध का संचार हुआ। उन राजपुत्र में एक मुद्रा दोष था और वे बातचीत करते समय गर्दन टेढ़ी करके बोलते थे। क्रुद्ध गोपीनाथ ने उनका उपहास करते हुए कहा, "मेरे घोड़ों की कीमत इतनी कम क्यों होगी? वे तो गर्दन टेढ़ी नहीं करते। इतने दाम पर मैं घोड़े नहीं दे सकूँगा।"

गोपीनाथ की बात सुनकर राजपुत्रों ने अपने को अपमानित बोध किया और प्रतिकार हेतु उन्होंने गोपीनाथ को उचित सजा देने का निश्चय किया। उन दिनों गुरुतर अपराधियों को सजा देने के लिए एक ऊँचे चांग (मंच) पर चढ़ाया जाता था। उसके नीचे मध्यस्थल में धार चढ़ायी हुई एक बड़ी तलवार लगी रहती थी और ऊपर से अपराधी को तलवार पर फेंकर उसके दो टुकड़े कर दिये जाते थे।

इसी को 'चांग पर चढ़ाना' कहते हैं। गोपीनाथ को घोर अपराधी ठहराकर राजपुत्र उन्हें चांग पर चढ़ाने की व्यवस्था करने लगे। इस घटना को लेकर राज्य में चारों ओर भीषण हो-हल्ला मच गया।

भक्तों ने अतीव दुःख के साथ चैतन्यदेव को भी समस्त बातों की जानकारी दी। महाप्रभु के अतिशय प्रिय अन्तरंग रामानन्द और सेवक वाणीनाथ के सहोदर भाई गोपीनाथ पर आसन्न महान संकट पर भक्तगण शोक प्रकट करने लगे। परन्तु चैतन्यदेव, गोपीनाथ के प्रति किसी प्रकार का सहानुभूति दिखाना तो दूर, अपितु गम्भीरतापूर्वक कहने लगे, "प्रजा से कर वसूलकर, राजा को उनका उचित राजस्व दिये बिना जो उसे स्वेच्छापूर्वक अपने भोग में खर्च करता है, उसका ऐसा ही परिणाम स्वाभाविक है।" इसके पश्चात् पुनः कुछ दुःखाक्रान्त विशिष्ट भक्तों ने आकर महाप्रभु को बताया, "राजसैनिक आकर गोपीनाथ के परिवार के अन्य लोगों को भी पकड़कर ले गये और गोपीनाथ को शीघ्र ही चांग पर से फेंककर काटा जायगा।" यह भीषण संवाद सुनकर भी चैतन्यदेव ने कुछ कहा नहीं और न ही दुःख व्यक्त किया। उनकी यह उदासीनता भक्तों को बड़ी विस्मयकर लगी। वे लोग आशा लेकर आये थे कि महाप्रभु की शुभेच्छा व आशीर्वाद से रामानन्द के परिवार पर आयी विपत्ति टल जाएगी। परन्तु अब उन्हें इस विषय में सर्वथा उदासीन देखकर उन लोगों ने हाथ जोड़कर कातर स्वर में निवेदन किया, "रामानन्द के परिवार के सभी आपके अनुगत हैं। उनके इतने भीषण संकट के समय आपकी ऐसी उदासीनता अच्छी नहीं दीख पड़ती।" भक्तों का मनोभाव जानकर चैतन्यदेव के अन्तर में विस्मय का उदय हुआ। प्रकट में वे बोले, "तो क्या तुम लोगों की इच्छा है कि मैं राजा के पास जाकर गोपीनाथ के देय राशि की भिक्षा माँगू!"

राजा प्रतापरुद्र चैतन्यदेव को जिस श्रद्धाभक्ति की दृष्टि से देखते थे, उससे भक्तों को आशा थी कि यदि वे प्रयास करें तो गोपीनाथ की बड़ी आसानी से रक्षा हो सकती है। परन्तु वे इस मामले में बिल्कुल भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे और उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया, "मैं भिक्षुक हूँ, मुझसे कुछ नहीं हो सकता।" चैतन्यदेव किसी भी हालत में अपने संन्यासाश्रम धर्म की मर्यादा का उल्लंघन कर विषय के सम्पर्क में जाने के इच्छुक न थे। गोपीनाथ की रक्षा के लिए भक्तों द्वारा अतिशय कातर भाव से बारम्बार प्रार्थना किये जाने पर, वे उन लोगों को समझाते हुए बोले, "यदि तुम लोग उसकी रक्षा करना चाहते हो, तो सभी श्री जगन्नाथदेव

के मन्दिर में जाकर उनकी शरण लो। एकमात्र वे ही 'हाँ को ना' और 'ना को हाँ' करने में समर्थ हैं।"

इधर राजा के प्रिय मंत्री हरिचन्दन को राजकुमारों की कठोर व्यवस्था पर बड़ा दु:ख हो रहा था। उन्होंने स्वयं ही राजा प्रतापरुद्र के पास जाकर पूरी घटना का भलीभाँति वर्णन किया और उनसे अति विश्वस्त पदाधिकारी भवानन्द राय के पुत्र व रामानन्द राय के सहोदर गोपीनाथ की सजा के विषय में विचार तथा उनके प्रति अनुकम्पा दिखाने का विशेष अनुरोध किया। हरिचन्दन राजा को समझाते हुए बोले, "गोपीनाथ के परिवार के सभी लोग राज-अनुगत हैं, उन लोगों को ऐसा कठोर दण्ड शोभा नहीं देता। इसके अतिरिक्त गोपीनाथ पर जो प्राप्य बाकी है, वह उसके बचे रहने पर ही जिस किसी भी उपाय से हो सके, वसूलना सम्भव हो सकेगा। उसे जान से मार डालने से तो कोई लाभ नहीं होगा।" हरिचन्दन की बात सुनकर राजा बोले, "गोपीनाथ के प्राणदण्ड के विषय में मैं कुछ भी नहीं जानता। उस पर हमारा धन बाकी है और हमें धन से ही प्रयोजन है; प्राण लेकर क्या होगा?" राजा ने हरिचन्दन को राजकुमार के पास भेजकर गोपीनाथ को प्राणदण्ड से बरी करा दिया और हरिचन्दन की मध्यस्थता से बाकी कर के वसूली की भी सुव्यवस्था हो गयी। गोपीनाथ और उनके परिवार के लोग मुक्त हुए।

गोपीनाथ से सम्बन्धित इस घटना तथा भक्तों के व्यवहार के फलस्वरूप चैतन्यदेव के मन में बड़ी विरक्ति हुई। यह सोचकर कि पुरी में रहने से ऐसे ही झंझट होते रहेंगे, उन्होंने अलालनाथ के निर्जन में जाकर रहने की इच्छा व्यक्त की। उन दिनों वे अपने परम अनुगत भक्त और जगन्नाथजी के सेवक काशी मिश्र के उद्यान में एकान्तवास करते हुए अपने भाव में डूबे रहते थे। काशी मिश्र प्रतिक्षण जी-जान से उनकी सेवा और सुविधा के प्रयास में लगे रहते थे। महाप्रभु ने काशी मिश्र से अपने अन्तर की बात कही। चैतन्यदेव उनसे बोले, "देखो मिश्र, इन भवानन्द राय का बड़ा परिवार है। इनके कारण मेरा यहाँ रहना कठिन हो गया है। ये लोग राजा के नौकर हैं, तो भी उनसे विश्वासघात करके उनका धन हजम कर जाते हैं। अतः राजा भी यदि इन्हें दण्डित करें, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? तो भी इन्हीं सब बातों को लेकर लोग मुझे परेशान करने आते हैं। इसीलिए मैंने सोचा है कि अलालनाथ में जाकर निवास करूँगा। वह स्थान बड़ा ही निर्जन है। वहाँ चले जाने पर तो इन सब झंझटों में नहीं पड़ना होगा!"

महाप्रभु की बातें सुनकर काशी मिश्र के अन्तर में बड़ा ही दुःख उपजा। उन्होंने उनसे अतीव कातर भाव से बारम्बार पुरी में ही रह जाने तथा भक्तों द्वारा हो चुके अपराधों को क्षमा कर देने का अनुरोध किया। गोपीनाथ सम्बन्धी घटना का उस दिन विशेष रूप से उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा, "रामानन्द के परिवार के प्रति आपके विशेष स्नेह-अनुकम्पा के बारे में सोचकर ही उस दिन वह घटना आपके समक्ष रखी गयी थी और अब भी सबका विश्वास है कि आपकी ही कृपा से गोपीनाथ को इस संकट से छुटकारा मिला था।" चैतन्यदेव को आश्वस्त करते हुए काशी मिश्र ने दृढ़ स्वर में पुनः कहा, "भविष्य में फिर कभी आपके समक्ष कोई अपंनी सांसारिक बातों या समस्याओं का जिक्र नहीं करेगा। आप यहीं पर यथेच्छा निर्जनवास करते हुए इस दास की मनोकामना पूर्ण करें।"

महा-शौर्य-वीर्य-पराक्रमशाली होकर भी महाराज प्रतापरुद्र अतीव निष्ठावान हिन्दू तथा देवद्विज-भक्त थे। अपने पुरी निवास के दौरान वे प्रतिदिन अपने कुलगुरु भगवद्भक्त काशी मिश्र के घर जाकर अपने हाथों से उनकी पदसेवा करते और साथ ही मिश्र के मुख से मन्दिर की अवस्था, जगन्नाथजी की सेवापूजा, नित्य-नैमित्तिक पर्व-उत्सव तथा लीलाकथा आदि के बारे में भी सारी बातें जान लेते थे। उपरोक्त घटना के कुछ काल बाद ही एक दिन महाराज पूर्ववत काशी मिश्र के भवन में आये हुए थे। मिश्र ने उपयुक्त अवसर देखकर चैतन्यदेव की पुरी त्यागने की इच्छा से उन्हें अवगत कराया और इस पर खेद व्यक्त करने लगे। मिश्र की बात सुनकर महाराज के मन में भी अतिशय दुःख का उदय हुआ। प्रतापरुद्र विषादपूर्वक बोले, "ऐसे महापुरुष यदि असुविधा के कारण पुरी त्यागने को मजबूर हों, तो फिर मेरे शासन को धिक्कार है।" संन्यासी को पुरी में ही रखने के लिए महाराज ने काशी मिश्र से विशेष अनुरोध किया और विमर्ष-चित्त से महल में लौटते ही उन्होंने गोपीनाथ की खोज-खबर लेना आरम्भ कर दिया।

विश्वस्त लोगों के मुख से महाराज को पता चला कि गोपीनाथ थोड़े खर्चीले स्वभाव के होकर भी भक्तआदमी हैं। यद्यपि वे अपने भोग-विलास पर भी थोड़ा बहुत खर्च करते थे, तथापि उनका बहुत सा अर्थ देवता, साधु, ब्राह्मण, अतिथि-अभ्यागत व दीन-दुखियों की सेवा में ही व्यय होता था। इस प्रकार खुले-हाथों खर्च करने के कारण ही वे राजकोष का देय नहीं चुका पाते थे। गोपीनाथ के सत्कार्यों में धन व्यय करने की बात सुनकर राजा बड़े प्रसन्न हुए। फिर जब उन्हें यह पता

चला कि जिस दिन गोपीनाथ को प्राणदण्ड देने के लिए चांग पर चढ़ाया जाना था, उस दिन उनके मन में बिल्कुल भी विमर्ष न था और वे तन्मय चित्त से भगवन्नाम का जप कर रहे थे, तब राजा के विस्मय की सीमा न रही। गोपीनाथ के बारे में सब कुछ सुनकर राजा की उनके प्रति नाराजगी तो दूर हुई ही, वे उन पर बड़े सन्तुष्ट भी हुए। प्रतापरुद्र ने उन्हें बुला भेजा और अपने हाथ से विशेष सम्मान का प्रतीक राजकीय शिरःवस्त्र प्रदान करते हुए वे उनसे बोले, "तुम्हारे सारे अपराध क्षमा कर दिये गये और तुम्हारा पहले का समस्त देय भी माफ किया जाता है। आज से तुम्हें दुगना वेतन प्राप्त होगा। नियमित रूप से राजकर अदा करने के पश्चात् अपना धन तुम स्वेच्छानुसार सत्कर्म में व्यय कर सकते हो। अब से सावधानी बरतना कि कहीं राजकोष का तुम पर ऋण न हो जाय।" अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ गोपीनाथ ने अतीव विनयपूर्वक राजा के चरणों में अवनत होकर अपनी गल्तियों के लिए बारम्बार क्षमा याचना की और भविष्य में सावधान रहने का संकल्प लेकर वे हर्षित चित्त के साथ घर लौटे।

घर पहुँचकर गोपीनाथ ने जब यह शुभ संवाद अपने परिवार के लोगों को बताया, तो सबके मन में अतीव विस्मय उपजा। कहाँ तो राजकोष का देय बाकी होने के कारण अपमान हो रहा था और प्राण भी संकट में पड़ गये थे और कहाँ अब राजसम्मान और वित्त की प्राप्ति हो रही थी! उनके वृद्ध पिता भवानन्द राय को चैतन्यदेव 'पाण्डुराज' का नाम देकर उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया करते थे। गोपीनाथ से यह समाचार पाकर, वे रामानन्द राय सहित अपने पाँचों पुत्रों को साथ लेकर महाप्रभु के पास आये और उनके चरणों में दण्डवत प्रणाम किया। तदुपरान्त वृद्ध ने सजल नयनों के साथ हाथ जोड़कर उनके समक्ष पूरी घटना निवेदित करने के बाद कहा, "प्रभो, आपकी कृपा से ही गोपीनाथ की प्राणरक्षा हुई और पुनः राजा का अनुग्रह, सम्मान व धन की प्राप्ति भी हुई है।" चैतन्यदेव उन्हें बीच में ही टोकते हुए बोले, "मुझसे कुछ नहीं, श्री जगन्नाथजी की कृपा से ही सब होता है।" भवानन्द राय दुःख व्यक्त करते हुए बोले, "प्रभो, संसार बड़े ही अनर्थ का कारण है। रामानन्द तथा वाणीनाथ आपके श्रीचरणों के आश्रय में परम शान्तिपूर्वक हैं। मेरे बाकी पुत्रों को भी आपके चरणों में आश्रम मिल जाय, तो मैं निश्चिन्त हो जाऊँ।" राय की बात सुनकर महाप्रभु ने हँसते हुए कहा, "सभी बैरागी हो जायँ, तो तुम्हारे इतने बड़े परिवार को अन्न कौन देगा?" तदुपरान्त

उन्होंने राय के पुत्रों को सावधान रहने का उपदेश देते हुए कहा, "राजा का धन कभी अपनी इच्छानुसार व्यय मत करना। राजा का प्राप्य सदा नियमित रूप से चुका कर ही अपनी आय को सत्कर्म में लगाना। व्यर्थ का व्यय कभी मत करना, क्योंकि उससे इहलोक और परलोक — सर्वत्र दुःखभोग करना पड़ता है।" उनके उपदेश सुनकर राय के पुत्रों के मनोभाव तथा स्वभाव में विशेष परिवर्तन आया।

संन्यासि-चूड़ामणि चैतन्यदेव के कांचन-त्याग के प्रसंग में हम एक अन्य घटना का भी उल्लेख करेंगे। महाराजा प्रतापरुद्र की उनके प्रति जैसी श्रद्धाभक्ति थी, उसे देखकर ऐसा लगता था कि वे इन अलौकिक महिमामय संन्यासी की सेवा एवं प्रीति के लिए किसी भी प्रकार का त्याग व कष्ट सहर्ष वरण करेंगे। परन्तु कठोर तपस्वी काम-कांचन-त्यागी चैतन्यदेव केवल जगन्नाथजी के सेवक तथा भगवद्भक्त होने के कारण ही राजा के प्रति स्नेहभाव रखते थे और अपनी किसी ऐहिक सुख-सुविधा के लिए कभी राजमुखापेक्षी नहीं हुए। यहाँ तक कि अपने अनुगत गृही-भक्तों का भी विषय-सुख की कामना से राजानुगत्य उन्हें अतिशय गर्हित प्रतीत होता था। इस प्रसंग में निम्नलिखित घटना से पाठकों को उनके अद्‌भुत त्याग एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का बोध हो जायगा —

बाल्यकाल से ही अद्वैताचार्य के साथ चैतन्यदेव के मधुर सम्पर्क की बात सर्वविदित है। जैसे आचार्य चैतन्यदेव के प्रति साक्षात् श्रीकृष्ण-बोध से अपने हृदय का भक्ति-प्रेम निवेदित करते थे, वैसे ही महाप्रभु भी आचार्यदेव की साक्षात् महेश्वर-ज्ञान से पूजा करके आनन्द-लाभ करते थे। एक बार रथयात्रा के दिनों में अपने पुरी निवासकाल में आचार्य ने पुष्प-चन्दन एवं उपहारादि के साथ चैतन्यदेव का पूजन किया और महाप्रभु ने भी उसी पात्र से सचन्दन-पुष्प लेकर आचार्य की शिवभाव से पूजा की। यहाँ तक कि अपनी शिवभक्ति के भावावेश में उस दिन उन्होंने शिवजी का स्तव पाठ और गाल बजाते हुए आनन्दपूर्वक नृत्य भी किया था। रसिक आचार्यदेव बीच-बीच में प्रेमरस का आस्वादन करने के निमित्त चैतन्यदेव से ठिठोली करने को, उनके द्वारा प्रचारित भक्तिमार्ग के विरोधी युक्ति-तर्कों के आधार पर शास्त्र-व्याख्या करने लगते थे। वहाँ उपस्थित अन्य लोग उनके अन्तर का भाव न समझकर सोचते कि ये चैतन्यदेव के विरुद्ध मतावलम्बी हैं। फिर जब वे लोग दुःखी होकर महाप्रभु के समक्ष अपने हृदय की बात प्रकट करते, तो वे उन लोगों को सान्त्वना देकर शान्त करते तथा आचार्य के ऊपर कृत्रिम कोप दिखाते

हुए उन्हें डाँटने लगते। चैतन्यदेव के इस दिखावटी क्रोध-प्रदर्शन पर आचार्य के आनन्द में सैकड़ों-गुनी वृद्धि हो जाती और वे प्रेम में मतवाले होकर नृत्य आरम्भ कर देते। यहाँ तक की कभी-कभी तो वे इस प्रेमानन्द के अतिरेक में बाह्यज्ञान तक खो बैठते। इस प्रकार चैतन्यदेव को अपने भावानुरूप पाने तथा उनके साथ आनन्दोपभोग करने के लिए आचार्य का छद्म विरुद्ध-भावावलम्बन निरन्तर चलता ही रहता था। महाप्रभु के अन्तरंग भक्तगण भी उस आनन्दरस का विशेष रूप से उपभोग करते थे, परन्तु बाहर के लोग वास्तविकता को न समझ पाने के कारण अन्य प्रकार की धारणा बना लेते थे। चैतन्यदेव के संन्यास लेकर नीलाचल में निवासकाल के दौरान आचार्य उनके दर्शन की आशा में प्रतिवर्ष रथयात्रा के अवसर पर पुरी आया करते थे। यहाँ तक कि अपनी वृद्धावस्था में भी इतनी दूर तक पैदल चलकर परदेश-यात्रा के कष्ट को वे कष्ट नहीं मानते थे।

अद्वैताचार्य के कमलाकान्त विश्वास नाम के एक अतीव स्वामीभक्त सेवक थे। भगवद्भाव में विभोर तथा सांसारिक विषयों के प्रति उदासीन आचार्य की घर-गृहस्थी की सुचारू रूप से रक्षा के लिए ही, सम्भवतः भगवदिच्छा से उन्हें विश्वास के समान विश्वस्त सेवक मिल गया था। आचार्य के परिवार की सेवा, उनकी सम्पत्ति की रक्षा व देखरेख और शान्तिपूर्वक जीवनयात्रा का निर्वाह — यही विश्वास की एकमात्र कामना थी। अपने जीवन के अन्तिम काल में या तो वृद्धावस्था के कारण अथवा उपार्जन में अक्षमता के कारण, एक बार आचार्य ऋणग्रस्त हो गये थे। बहुत प्रयास के बावजूद उस ऋण को चुकाने में असमर्थ होकर विश्वास के मन में बड़ी चिन्ता हुई। उन्हीं दिनों रथयात्रा के उपलक्ष्य में आचार्य के साथ ही विश्वास भी पुरी आये हुए थे। अपने पुरी निवास के दौरान कमलाकान्त राजा प्रतापरुद्र के दान, ध्यान व महानता के बारे में विशेष रूप से अवगत हुए। क्रमशः विश्वास को यह भी पता चला कि राजा चैतन्यदेव तथा भक्तों के प्रति असीम श्रद्धा-भक्ति का भाव रखते हैं और उन लोगों की सेवा के लिए अतीव आग्रही रहते हैं। विश्वास को ऋण चुकाने का उपाय भी सूझ गया। एक दिन उन्होंने आचार्य की महिमा का वर्णन तथा उनके ऋणशोध के लिए तीन सौ मुद्राओं की याचना करते हुए राजा के नाम एक सुदीर्घ पत्र लिखा।

घटनाक्रम से उस पत्र की बात चैतन्यदेव के कानों में जा पहुँची। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि राजा से आचार्य के लिए धन की याचना करते हुए विश्वास ने एक पत्र लिखा है, तो उनके दुःख की सीमा न रही। कमलाकान्त ने अपने पत्र में

आचार्य की महिमा सिद्ध करने के लिए उन्हें साक्षात् ईश्वर बताते हुए उनका वर्णन किया था। चैतन्यदेव उसके पत्र की भाषा तथा भाव सुनकर हँसते हुए बोले, "इसमें सन्देह नहीं की आचार्य ईश्वर हैं, परन्तु ईश्वर की दीनता प्रकट करते हुए धन की भिक्षा माँगना अत्यन्त गर्हित कर्म हैं।" राजा से धन माँगने के कारण चैतन्यदेव मन-ही-मन कमलाकान्त के प्रति बड़े नाराज हुए। उन्होंने उसे उचित शिक्षा देने का विचार करके गोविन्द को आदेश दिया, "विश्वास को आज से यहाँ मत आने देना। अब मैं उसका मुख नहीं देखना चाहता।" भक्तों के लिए प्रभु का कोपभाजन होना और उनके दर्शनों से वंचित होना ही सबसे बड़ी सजा है। गोविन्द के मुख से महाप्रभु की आज्ञा सुनकर विश्वास के प्राण छटपटाने लगे और अपनी मूर्खता की बात सोचकर वे बड़े सन्त्रस्त हो उठे। विश्वास अब अपने किए पर पश्चात्ताप करने लगे और प्रतिकार का और कोई उपाय न देख, आखिरकार उन्होंने आचार्य की शरण ली। उनके मुख से सारी घटना सुनकर आचार्य के चित्त में भी बड़े क्षोभ का उदय हुआ। उन्होंने दुःखी चित्त से पहले तो विश्वास को ऐसे निन्दनीय कर्म के लिए कड़ी डाँट पिलायी। परन्तु बाद में जब उन्हें बोध हुआ कि प्रभुभक्त सरलबुद्धि कमलाकान्त ने अपने प्रभु के निमित्त ही ऐसा कर्म किया है और इनमें उसका बिन्दुमात्र भी निजी स्वार्थ नहीं है, तब आचार्य के मन में सहानुभूति का उद्रेक हुआ और वे अपने सेवक को ढाढ़स बँधाने लगे।

चैतन्यदेव ने अर्थयाचना के लिए विश्वास के प्रति बाहर से तो बड़ा भीषण कोप प्रदर्शित किया था, पर उसकी अतुलनीय प्रभुभक्ति के कारण महाप्रभु के चित्त में उनके प्रति विशेष अनुग्रह का भाव था। कुछ काल बाद एक दिन अवसर देखकर आचार्य ने कए मलाकान्त को ले जाकर चैतन्यदेव के चरणों में उपस्थित किया और विनय दिखाते हुए विश्वास के समस्त अपराध क्षमा करा दिये। महाप्रभु ने भी विश्वास को भविष्य में सावधान रहने का आदेश देते हुए कहा, "तुमने ऐसा कर्म क्यों किया जिससे आचार्य को लज्जित होना पड़ा और उनकी धर्म-हानि हुई। कभी राजधन लेने का प्रयास नहीं करना चाहिए। विषयी लोगों का अन्न खाने से मन चंचल होता है और मन चंचल रहने से कृष्ण का स्मरण नहीं होता। कृष्णस्मृति के अभाव में जीवन निष्फल हो जाता है, लोगों के सामने लज्जित होना पड़ता है और धर्म-कीर्ति की हानि होती है। अतः भविष्य में कभी ऐसे कर्म मत करना।" (क्रमशः)

□

लोकनायक लोकमान्य तिलक

स्वामी सत्यरूपानन्द

१८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य युद्ध में सामयिक पराजय के पश्चात घायल भारत ने प्रथम अंगड़ाई उसी सदी के अंतिम दशक में ली थी। वैसे स्वातंत्र्य युद्ध के लगभग १०० वर्ष पूर्व बौद्धिक तथा सांस्कृतिक जागृति का शंख तो राजा राममोहन राय ने ही फूँक दिया था किन्तु सुप्त भारत की नींद टूटी थी स्वामी विवेकानन्द की सिंह गर्जना से। १८५८ से १९०० ई. तक का समय बौद्धिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा सामाजिक जागृति का समय कहा जाता है। इस काल-खंड में भारत के शिक्षित वर्ग में अपनी अस्मिता की चेतना तो जागी थी किन्तु अभी पूर्ण आत्मविश्वास तथा अपनी स्वयं की शक्ति पर आस्था उत्पन्न नहीं हो पाई थी। इसीलिये १८८५ में बनी नेशनल कांग्रेस याचना और प्रार्थना के ही स्वरों में अपने अधिकारों की माँग ब्रिटिश सरकार के सामने रखती थी।

१८८९ में बंबई में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। पूना से तिलकजी भी उस अधिवेशन में प्रतिनिधि होकर आये। यहीं वे कांग्रेस में प्रविष्ट हुए। वैसे तिलकजी का राजनैतिक जीवन तो १८८१ में 'केसरी' तथा 'मराठा' पत्रों के माध्यम से प्रारंभ हो गया था। अब कांग्रेस में प्रविष्ट होकर उन्होंने अपनी सारी शक्ति जन-जागरण तथा राजनैतिक आन्दोलन में लगा दी और तत्कालीन राजनीति को याचना की हीनवृत्ति से निकालकर पूर्ण स्वाधीनता के रणक्षेत्र में ला कर खड़ा कर दिया। उन्होंने वज्र दृढ़ स्वर में घोषणा की, "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और हम उसे ले कर रहेंगे।"

तिलकजी की मान्यता थी कि कुछ पढ़े लिखे लोगों की प्रार्थना और प्रस्तावों द्वारा राजनैतिक अधिकार या स्वराज्य नहीं प्राप्त किया जा सकता। वे यह मानते थे कि जनसाधारण को जागृत कर उनके पूर्ण सहयोग के द्वारा ही ब्रिटिश शासन से अपने अधिकार प्राप्त किये जा सकते हैं। उनका विश्वास था कि सदियों से सोई हुई भारत की जनता को जगाना होगा। उन्हें उनकी महान संस्कृति, उदार धर्म एवं उच्च आध्यात्मिकता का पुनर्स्मरण कराकर स्वराज्य प्राप्ति के लिये रणांगण में लाकर खड़ा करना होगा। और लोकमान्य तिलक अपने इस लक्ष्य में सफल हुए। गणपति उत्सव और शिवाजी उत्सव के द्वारा उन्होंने लोगों को झकझोर कर जगाया तथा बड़ी मात्रा में जनसाधारण को सक्रिय किया। इन उत्सवों के माध्यम से उन्होंने तत्कालीन भारतीयों के मन में अपने धर्म और संस्कृति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की।

उनके मन में गौरव, श्रद्धा और सम्मान की भावनाएँ जगाईं। तिलकजी का यह दृढ़ विश्वास था कि कोई भी राष्ट्र अपने अतीत के मूल से कटकर कभी भी जीवित नहीं रह सकता। अपने मूल से जीव्ले-रस लेकर ही राष्ट्र सुखी और संपन्न हो सकता है। भारत का मूल उसकी अपनी आध्यात्मिक संस्कृति तथा उदार धार्मिक दृष्टि है।

लोकमान्य तिलक मौलिक रूप में एक धार्मिक तथा आध्यात्मिक पुरुष थे। तत्कालीन परिस्थितियों के कारण उन्हें राजनैतिक आन्दोलन में कूदना पड़ा था, किन्तु उसे भी उन्होंने अपने स्वधर्म के रूप में ही देखा था तथा यही सोचकर आजीवन निष्ठापूर्वक उसका पालन किया। तिलकजी की भारत तथा भारतवर्ष के द्वारा विश्व के सबसे बड़ी देन है उनका -- 'कर्मयोगशास्त्र'। गीता की उनके द्वारा की गई नयी व्याख्या। गीता भारतीय आध्यात्मिक साहित्य की चूड़ामणि है। आचार्य शंकर से आज तक अनेक विद्वानों और मनीषियों ने उस पर टीकाएँ लिखी हैं, उसकी व्याख्या की है। तिलकजी के पूर्व तक गीता निवृत्तिप्रधान ज्ञान का या भावनाप्रधान महान ग्रन्थ माना जाता था। किन्तु तिलकजी ने अपने महान ग्रन्थ 'कर्मयोगशास्त्र' या 'गीता रहस्य' के द्वारा गीता की एक अभिनव व्याख्या प्रस्तुत की और यह दिखाया कि मूलतः गीता निवृत्तिप्रधान या भक्तिप्रधान ग्रन्थ नहीं है। गीता का मौलिक सन्देश है सतत कर्म -- निष्काम कर्म। तिलकजी का मत है कि गीता एक प्रवृत्तिमूलक ग्रन्थ है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि व्यक्ति को सदैव अपने कर्त्तव्य कर्मों को निष्ठापूर्वक निष्काम भाव से आजीवन करते रहना चाहिये। इसी निष्काम कर्म के द्वारा उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। मोक्ष प्राप्त करने के लिये उसे संसार त्यागकर कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। अपने कर्त्तव्य कर्मों का पालन करते हुए ही व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

सचमुच ही निवृत्ति के नाम पर आलस्य अकर्मण्यता और घोर तमोगुण में डूबे तत्कालीन भारतीय समाज को तिलक जी ने कर्मयोगशास्त्र का अमृत पिलाकर प्रचण्ड प्रवृत्ति तथा दृढ़ कर्मठत्ता के राजमार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। तिलकजी वस्तुतः कर्मण्यता एवं प्रवृत्तिमार्ग के युगपुरुष थे। लोकमान्य तिलक का जीवन उनके सिद्धान्तों का मूर्त प्रतीक था। उनका व्यक्तिगत जीवन सर्वथा निष्कलुष, पवित्र एवं पूर्णतः निस्वार्थ था। स्वार्थत्याग और परहित के लिये सतत कर्म उनके जीवन का मूलमंत्र था। राष्ट्रीय संकट की इस घड़ी में तिलकजी का जीवन उस दीपस्तंभ के समान है, जो सैकड़ों भूले-भटके लोगों को जीवन की उचित दिशा दिखाकर उन्हें गंतव्य पर पहुँचा सकता है।

☐

कथा-प्रसंग

रिश्ते - नाते

स्वामी योगात्मानन्द

(मराठी मासिक 'जीवन-विकास' में प्रकाशित प्रस्तुत लेख में पुराण की एककथा केमाध्यम से जीवन का अतीव सुन्दर विश्लेषण किया गया है। इसका हिन्दी अनुवाद नागपुर केश्री वा. म. लोहित ने किया है। - सं.)

"भद्रे, मेरा प्यारा मुन्ना बहुत देर से सोया हुआ है, उसे जरा मेरे पास तो ले आ" — रानी कृतद्युति ने दासी से कहा। दाई ने बालक के पास जाकर पाया कि वह हमेशा के लिए सो गया है। दुःख से दोनों हाथों से छाती पीटते हुए वह ढाढ़ें मारकर वह रोने लगी। सुनकर रानी कृतद्युति दौड़ते हुए वहाँ आयी और अपना लाडले पुत्र को दिवंगत हुआ देख असह्य शोक से मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़ी। इतने में कोलाहल सुनकर राजप्रसाद के अन्य लोग भी भागकर वहाँ आ पहुँचे और इस घटना पर शोकाकुल हो गये। जब अपने प्राणप्रिय सन्तान के वियोग की हृदयविदारक सूचना राजा चित्रकेतु के कानों तक पहुँची, तो उनकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। अपने मन्त्रियों का सहारा लेते, लड़खड़ाते हुए वे भी किसी प्रकार वहाँ आये और मृत बालक के शव के पास पहुँचकर ढेर हो गये।

सर्वत्र एक साथ रुदन और हो-हल्ला मच गया।

वैसे राजा चित्रकेतु एक बड़े सम्पन्न और सुखी राजा थे। कमी थी तो केवल एक ही — अनेक रानियों के बावजूद उनकी कोई सन्तान न थी। अच्छे-अच्छे खाद्य पदार्थ भी जिस प्रकार केवल नमक के अभाव से नीरस हो जाते हैं, उसी प्रकार सन्तान के अभाव में उनका सारा सुखपूर्ण जीवन उनके लिए अलोना हो गया था। ऐसी ही दुःखमय परिस्थिति में एक दिन ऋषि अंगिरा उसके यहाँ पधारे और उनका कुशलक्षेम पूछने लगे।

— "क्या बताऊँ ऋषिवर, आप तो सर्वज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं; तथापि जब पूछ ही रहे हैं, तो मेरे लिए बताना आवश्यक है" ऐसा कहकर राजा ने अपने हृदय में चुभनेवाला शल्य ऋषि के सामने प्रकट कर दिया। दयालु ऋषि ने राजा के द्वारा एक यज्ञ का अनुष्ठान कराया और उसका प्रसाद राजा की जेष्ठ, सद्‌गुण-सम्पन्न पत्नी कृतद्युति को खाने के लिए दे दिया।

— "राजन, अब रानी को एक पुत्र होगा, जो तुम्हें हर्ष तथा शोक दोनों ही

प्रदान करेगा'' — ऐसा कहकर ऋषि ने वहाँ से प्रस्थान किया। यथासमय रानी कृतद्युति ने एक सुन्दर पुत्र प्रसव किया। समाचार मिलते ही राज्य में सर्वत्र आनन्द उमड़ पड़ा। राजा-रानी के हर्ष का तो कोई पारावार ही न था। राजा ने पुत्र के कल्याण प्रचुर दान-धर्म किया। उसे लाड़-प्यार करने में राजा-रानी स्वयं को भी भूल गए। जिस तरह किसी निर्धन को बहुत मेहनत करने के बाद मिले हुए धन से प्रगाढ़ आसक्ति हो जाती है, उसी तरह काफी प्रयासों से प्राप्त हुए इस पुत्र के साथ राजा को की भयंकर आसक्ति हो गई और यह दिनों-दिन बढ़ती भी गयी।

दूसरी ओर अपनी रानियों के प्रति उनका प्रेम कम होने लगा। मूलतः पुत्रहीन होने से शोकसन्तप्त अन्य रानियों में इस कारण ईर्ष्या का संचार हुआ। वे तीव्र मत्सराग्नि में वे जलने लगीं। उन्हें दिखने लगा कि इस नवागत बालक के कारण ही वे अब कृतद्युति की तुलना में हीनता को प्राप्त हुई हैंतथा राजा के स्नेह से भी वंचित हो गई हैं। अपनी इस दुरवस्था के कारण-स्वरूप इस बालक रूपी काँटे को निकाल फेंकने का निश्चय करके ईर्ष्याग्नि से विवेकहीन रानियों ने एक दिन उसे जहर देकर अपना नियोजित काम पूरा कर डाला था।

❑ ❑ ❑

बालक के प्राणहीन शरीर को पकड़कर कृतद्युति जोर-जोर से विलाप कर रही थी। कभी वह परमेश्वर को दोष दे रही थी, तो कभी बालक को सम्बोधित कर बोल रही थी, ''अरे लाड़ले, उठ! इन भयंकर यमदूतों के साथ मुझसे दूर मत जा। देख, तेरे पिताजी तेरे वियोग के कारण कैसे दुःख से मूर्छित हो गए हैं। देख, तेरे ये साथी तुझे अपने साथ खेलने के लिए बुला रहे हैं। और आज अभी तक तुझे भूख कैसे नहीं लगी? आ, मैं तुझे दूध पिलाती हूँ।'' आदि आदि।

रानी का यह शोकाकुल रुदन सुनकर सभी उपस्थित लोगों के हृदय भी अभिभूत हो गये। सारे नगर पर मानो शोक की छाया उतर आयी। कौन किसे समझाए? सभी शोक-सागर में निमग्न थे। जब अंगिरा ऋषि को यह समाचार प्राप्त हुआ, तो वे भी देवर्षि नारद के साथ वहाँ आ पहुँचे और दुःखातिरेक से जड़वत हुए चित्रकेतु को सान्त्वना देने लगे। उन्होंने कहा, ''राजन, जिसके लिए तुम इतना शोक कर रहे हो, वह बालक तुम्हारे पिछले जन्मों में कौन था? और भविष्य में आनेवाले जन्मों में भी उसका और तुम्हारा भला क्या सम्बन्ध रहनेवाला है? जिस तरह जल के प्रभाव से बालू के कण एक-दूसरे के निकट आते हैं और फिर अलग हो जाते

हैं, उसी तरह काल-प्रवाह में प्राणियों का भी संयोग-वियोग होता रहता है। हमें दिखनेवाले सारे चर-अचर पदार्थ न तो हमारे जन्म के पहले थे, और न मृत्यु के पश्चात ही रहेंगे, इसलिए वर्तमान में भी उनका अस्तित्व सत्य नहीं है। इसका कारण यह है कि सत्य कभी भी बदलता नहीं। राजन, जिस प्रकार एक बीज से धरती पर दूसरे बीज की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार पिता और माता के शरीर से पुत्र की उत्पत्ति होती है। उनका और जीवों का सम्बन्ध अविद्याकल्पित है।"

उनके इस प्रकार समझाने पर राजा को धीरे-धीरे बोध होने लगा। अंगिरा ऋषि आगे कहने लगे, "हे राजन, तुम भगवद्भक्त हो, इस प्रकार शोक करना तुम्हें शोभा नहीं देता। भूतकाल में जब तुम पुत्र के लिए आतुर हुए थे, तभी यह सारा ज्ञान मैं तुम्हें देनेवाला था, परन्तु पुत्र-प्राप्ति के लिए तुम्हारी अदम्य लालसा को देखते हुए मैंने तुम्हें पुत्र दिया। अब तो तुम स्वयं ही जान गए हो कि पुत्रवान को कितनी भयंकर यातनाएँ सहनी पड़ती है। जो बात पुत्र के सम्बन्ध में सत्य है, वही पत्नी, घर-बार आदि समस्त नामरूपात्मक वस्तुओं के सम्बन्ध में भी है — यह सब कुछ अनित्य ही है और इसके साथ ममत्व का फल घोर दुःख ही होगा।"

राजा के हृदय में यह बात — इस जगत की अनित्यता की धारणा और भी दृढ़तापूर्वक अंकित करने के लिए देवर्षि नारद ने अपने योगबल के द्वारा चित्रकेतु के दिवंगत पुत्र की जीवात्मा को वहाँ बुलाया। उस जीवात्मा को सम्बोधित करते हुए वे बोले, "देखो, तुम्हारे बिछोह के कारण यह तुम्हारे माता-पिता, सगे-सम्बन्धी आदि किस तरह दुःख में डूब गए हैं। इसलिए तुम पुनः इस शरीर में आकर इन सबका शोक दूर करो। आकर अपने राजसुखों का भोग कर लो और आगे चलकर सिंहासन पर अधिष्ठित होकर राज्य चलाओ।"

परन्तु उस जीवात्मा को न केवल अपने माता-पिता के स्नेह का, अपितु उनके परिचय तक का भी पूर्ण विस्मरण हो गया था। वह कहने लगा, "देवर्षे, अपने कर्म की गति से मैं मनुष्य-पशु-पक्षी आदि शरीरों में से पता नहीं कितने काल से विचरण कर रहा हूँ। उनमें से ये लोग न जाने मेरे कौन से जन्म के माता-पिता और रिश्तेदार हैं! विभिन्न जन्मों में जीवों के विभिन्न माता-पिता और रिश्तेदार होते हैं और इस प्रकार मेरे असंख्य माता-पिता तथा शत्रु-मित्र हैं। जब तक 'मैं अमुक शरीर हूँ' — इस प्रकार का अभिनिवेश रहता है, तभी तक उस शरीर से सम्बन्धित माता-पिता आदि अन्य शरीरों के साथ उसे ममत्व का बोध होता रहता है। अन्यथा,

स्वरूपतः जीव तो एकमेवाद्वितीय अनादि, अनंत, जन्म-मृत्यु से रहित, मुक्त-स्वभावी है। शरीर के सम्बन्ध अथवा गुण-दोष उसे स्पर्श नहीं कर सकते।" यह बताकर वह जीवात्मा अन्तर्धान हो गयी।

राजा चित्रकेतु तथा रानी कृतद्युति के साथ ही वहाँ उपस्थित सभी लोग विस्मित होकर जीवात्मा की ज्ञान से परिपूर्ण बातें सुन रहे थे। इसे सुनकर उन लोगों का बाकी शोक भी नष्ट हो गया।

आगे चलकर राजा चित्रकेतु एक महान भगवद्भक्त हुए।

❑ ❑ ❑

श्रीमद्भागवत में वर्णित इस प्रसंग ने समूचे सांसारिक सम्बन्धों का खोखलापन स्पष्ट किया है, चाहे वे कितने ही घनिष्ट क्यों न हों। 'मैं अमुक शरीर हूँ' — यह बुद्धि रखकर हम अन्य शरीरों से यह 'मेरा पुत्र', यह 'मेरी पत्नी', यह 'मेरी माता', ये 'मेरे पिता' — फिर ये 'मेरी चचेरी मौसी के पति की बड़ी साली' — ऐसे अत्यन्त जटिल रिश्ते-नातों तक कितने ही सम्बन्ध स्थापित करते रहते हैं। 'मैं' को केन्द्रित करके बुना हुआ यह 'मेरा' का जाल इतना मोहक एवं लुभावना रहता है कि भविष्य में वह भयंकर दुःख तथा बन्धन की ही सृष्टि करेगा, यह जानते हुए भी हमारा 'मैं' उसी में डूबे रहना पसन्द करता है। इस रेशम के बन्धन को तोड़ने की क्षमता रहते हुए भी, उसका मोह इतना जबरदस्त रहता है कि वैसी इच्छा उसे होती ही नहीं। बंगाली सन्त-कवि रामप्रसाद का एक सुन्दर भजन है, जिसका भावार्थ है —

> रे मन, तू जरा सोचकर तो देख। इस जगत में कोई किसी का नहीं है। यहाँ तू व्यर्थ ही मारा मारा फिरता है। इस ('मैं-मेरा' के) मायाजाल में फँसकर उस बराभयकरा काली-माँ को भूल मत जाना। जिनके लिए तू चिन्ता करके तू मरा जा रहा है, वे क्या तेरे साथ जानेवाले हैं? (जन्म-जन्मान्तर की साथी लगनेवाली) तेरी प्रियतमा भी, अमंगल के भय से उस जगह को शुद्ध करवा लेगी। दो- तीन दिनों के लिए तुझे सभी परिवार का मालिक मानेंगे, परन्तु कालाकाल के मालिक के आने पर वे लोग तेरा तत्काल त्याग कर देंगे। रामप्रसाद कहते हैं कि जब यमराज तेरे केश पकड़कर खींचने लगेगा, तब काली का नाम लेकर पुकारना; तब फिर काल भी तुम्हारा भला क्या कर सकेगा?

❑ ❑ ❑

इन मायिक सम्बन्धों की निस्सारता गले से उतर गयी, तो भी उनका संस्कार इतना दृढ़ होता है कि 'ये सारे सम्बन्ध अनित्य हैं' — इस प्रकार का केवल विचार ही उनसे मुक्ति दिलाने के लिए पर्याप्त नहीं होता। इसीलिए भक्तिशास्त्र उसके साथ एक और उपाय जोड़ देने को कहते हैं। वह उपाय है — इन सम्बन्धों को परमेश्वर पर आरोपित करना। वे ही हम सबकी सच्ची माता हैं, सचमुच के पिता, पुत्र, भाई, बहन, सखा, सब कुछ हैं। उन्हीं का सच्चा मातृत्व, पितृत्व, पुत्रत्व आदि जगत की विभिन्न अनित्य वस्तुओं में प्रतिविम्बित होने के कारण हमें किसी शरीर में मातृत्व, तो किसी अन्य में पितृत्व अथवा पुत्रत्व का आभास होता है। और जिस तरह देखनेवालों के स्थानों में भेद होने के कारण एक ही आइने में प्रत्येक को भिन्न-भिन्न प्रतिविम्ब दीख पड़ते हैं, उसी तरह एक ही शरीर किसी को पितावत, तो किसी दूसरे को पुत्रवत और किसी अन्य को सखावत प्रतीत होता है। इसीलिए जिसके सत्यत्व के कारण ये भ्रामक सम्बन्ध सत्य प्रतीत होते हैं, उन परमेश्वर से ही ये सम्बन्ध स्थापित किये जाँय, तो वे बन्धनों से मुक्ति दिला देते हैं।

मनुष्य इसी प्रकार अपने सांसारिक सम्बन्धों को नयी तथा मुक्तिदायी दिशा दे सकें, इसीलिए वे करुणाघन परमात्मा ही बीच-बीच में मानव रूप धारण करके जगत में आते रहते हैं। सर्वातीत, सर्वगत अमूर्त परमात्मा को माता-पिता आदि मानना भला कैसे सम्भव होगा? उसी प्रकार जैसे भगवान श्रीकृष्ण को किसी ने पिता, किसी ने सखा, किसी ने पुत्र, किसी ने प्रियतम आदि मानकर इन नाना भावों द्वारा उनकी उपासना करके मुक्ति प्राप्त कर ली है।

भगवान श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी श्रीसारदादेवी के रूप में परमात्मा का मातृत्व ही मूर्तिमान हुआ था। हजारों भक्त उन्हें 'माँ' कहकर सम्बोधित करते थे। इतना ही नहीं, उनसे प्रवाहित होनेवाले मातृत्व के स्रोत में अवगाहन करके असंख्य लोग अपने मायिक सम्बन्धों से मुक्ति के मार्ग में अग्रसर हुए हैं। उनके इस अनोखे मातृत्व का स्वरूप एक भक्त से हुए उनके निम्नलिखित वार्तालाप से स्पष्ट होता है —

भक्त — आप किस प्रकार की माता हैं?

श्रीसारदादेवी — मैं तुम्हारी सचमुच की माँ हूँ। गुरुपत्नी के नाते से नहीं, मानी हुई नहीं, केवल कहने के लिए नहीं -- मैं सचमुच की माँ हूँ, मैं सबकी माँ हूँ।

सागर जिस तरह समस्त तरंगों की जननी है — सभी तरंगों का निर्माण उसी से होता है और उसी में उनका विलय भी होता है — उसी तरह परमात्मा ही सब जीवों की यथार्थ माता, पिता, पुत्र आदि सब कुछ हैं। बाकी सभी माता-पिता भाई-बहन आदि केवल माने हुए -- काल्पनिक, भ्रामक सम्बन्ध नहीं तो और क्या हैं?

प्रेरक - प्रसंग

॥ १ ॥

सन्त सालबेग

प्रतिवर्ष पुरी में होनेवाली जगन्नाथजी की महान रथयात्रा १७वीं शताब्दी के एक मुस्लिम सन्त-कवि सालबेग की छोटी-सी समाधि के पास थोड़ी देर ठहर कर ही आगे बढ़ती है। यह असामान्य परम्परा प्रभु जगन्नाथ के इन परम भक्त के जीवन की एक रोचक घटना से जुड़ी हुई है।

एक मुगल सामन्त थे तथा उनकी एक ब्राह्मण पत्नी की सन्तान के रूप में सन् १५९२ ई. में उड़ीसा में सालबेग का जन्म हुआ। कहते हैं कि अफगानों से लड़ते समय वह बुरी तरह घायल हो गया था और भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते ही उसके घाव चमत्कारिक रूप से तत्काल भर गये। श्रीकृष्ण के ही जगन्नाथ के रूप में विराजित होने के कारण, उनके प्रति कृतज्ञ भाव से सालबेग ने उनके मन्दिर के पास ही एक मठ बनवाया और जगन्नाथ, श्रीकृष्ण तथा अन्य वैष्णव देवताओं की स्तुति के रूप में भजन बनाते हुए अपना बाकी जीवन वहीं बिता दिया। वस्तुतः सालबेग के उड़िया भजनों की गणना श्रेष्ठतम वैष्णव पदों में होती है।

हिन्दू न होने के कारण सालबेग को जगन्नाथजी के मन्दिर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी। इस कारण वे केवल वार्षिक रथयात्रा के अवसर पर ही प्रभु के दर्शन कर पाते थे। एक बार जब सालबेग अपनी वृन्दावन की तीर्थयात्रा से लौटने के रास्ते में ही थे, कि रथयात्रा आरम्भ हो गयी। सालबेग ने प्रभु से बड़ी आन्तरिक प्रार्थना की कि वे उन्हें अपने वार्षिक दर्शन से वंचित न करें, परन्तु रथ जब उनके मठ तक पहुँचा, तब तक वे पहुँच नहीं सके थे।

कहते हैं कि तब प्रभु ने सालबेग के लिए एक और चमत्कार किया – सैकड़ों हाथियों तथा हजारों लोगों ने मिलकर रथ को खिंचने का बहुत प्रयास किया, परन्तु वे उसे तिल भर भी नहीं हिला सके। परन्तु जब सालबेग आ पहुँचे और उन्होंने रथ की रस्सी पकड़कर खींची, तभी यात्रा आगे बढ़ सकी। और इस कारण सालबेग के देहावसान के बाद भी प्रतिवर्ष जगन्नाथजी का रथ उनकी समाधि के पास ठहरकर ही आगे बढ़ता रहा है।

☐

-- २ --

सेवायज्ञ का एक निदर्शन

१४ जनवरी १९९६ का दिन था। संध्या के समय बम्बई मेल कलकत्ता के हावड़ा स्टेशन से निकली। दूसरे दिन सुबह लगभग साढ़े छह बजे गाड़ी रुक जाने के कारण नींद खुल गयी। चाय के लिए डिब्बे से नीचे उतरा, तो देखा कि गाड़ी एक गाँव के पास खड़ी है। दोनों तरफ पीले रंग की दो पट्टिकाएँ उस छोटे-से गाँव का नाम दर्शा रही थीं और इसी से ऐसा लग रहा था कि उस खाली जगह को स्टेशन का दर्जा प्राप्त है। गाँव का नाम था — जयरामनगर। गाड़ी के फिर से चलने के कोई लक्षण नहीं दिख रहे थे। खबर आयी कि वहाँ से पन्द्रह किलोमीटर दूर बिलासपुर स्टेशन पर भयंकर दंगा चल रहा है और वहाँ पूरे शहर में हड़ताल तथा कर्फ्यू है। यह भी सुनने में आया कि गाड़ी संध्या के छह बजे छूटेगी। इस पर यात्रियों का धीरज छूटने लगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी पेट-पूजा का प्रबन्ध सोचने लगा। साथ में लायी हुई सारी सामग्री समाप्त हो चुकी थी। देखते-ही-देखते गाड़ी का भोजनयान भी खाली हो गया। पन्द्रह डिब्बों की गाड़ी लगभग १२०० से १५०० यात्रियों को लेकर खड़ी थी। दोपहर के समय लगती हुई भूख की आहट पाकर यात्रीगण उस गाँव में जाकर खाद्य-पदार्थ तलाशने की सोचने लगे। परन्तु गाँव तथा स्टेशन इतने छोटे थे कि उनमें भला क्या मिलने की सम्भावना थी? धीरे धीरे छोटे बालक, वृद्ध तथा रुग्ण यात्रियों के मुख पर हवाइयाँ उड़ने लगी।

उस छोटे से गाँव के कुछ लोग यह सारी परिस्थिति देख रहे थे। उनके मन में क्या चल रहा था, यह भगवान ही जाने। परन्तु ग्यारह बजे के लगभग कुछ लोग आटे की बोरियाँ, सब्जियाँ, तेल के डिब्बे, कढ़ाइयाँ तथा अन्य चीजें लेकर स्टेशन पर आ पहुँचे। स्टेशन मास्टर से अनुमति लेकर उन्होंने बड़े अनुशासित ढंग से पुरियाँ तलना, सब्जी बनाना आदि कार्य आरम्भ कर दिया। हमारे मन में आया — चलो, अब सस्ता-महँगा जो भी हो, पेट भरने के लिए थोड़ा कुछ मिल तो जायगा। लगभग डेढ़ घन्टों में ५०-६० स्त्री-पुरुषों ने दौड़-धूपकर पुरी-सब्जी आदि बना लिया और पत्तलों में उसके पैकेट तैयार करने लगे। इसके बाद उनके मुखिया ने मानो आदेश देते हुए कहा, "सभी लोग अपनी अपनी जगह पर चले जायँ, यहाँ किसी को भी कुछ नहीं मिलेगा।" और उसके थोड़ी देर बाद ही पुरी-भाजी के पैकेट हर यात्री के पास पहुँचा दिये गये। इसके साथ ही पीने के पानी की भी

व्यवस्था थी। अन्ततः डेढ़ बजे तक सारे यात्री भोजन करके तृप्त हुए। और गाँव के लोग? किसी की भी राह देखे बिना, अपना सारा सामान समेटकर चले गये — पैसों की तो बात ही क्या, किसी का धन्यवाद लेने के लिए भी वे नहीं ठहरे।

शाम के छह बजे समाचार आया कि दंगा और भी भड़क उठा है और गाड़ी के रात भर छूटने के आसार नहीं हैं। गाड़ी में बिजली नहीं थी, पानी कब का समाप्त हो चुका था और पेट में फिर से चूहे कूदने लगे थे। परन्तु एक बार फिर उन ग्रामवासियों ने हमें विस्मय में डाल दिया। परन्तु इस बार उन लोगों ने जो कुछ किया, उसने हमारे हृदय को कुछ अधिक ही गहराई तक स्पर्श किया। छोटे छोटे बालक तथा महिलाएँ पेय जल की गगरियाँ और पुरुषगण चावल, सब्जियाँ आदि सामग्री लेकर पुनः उपस्थित हुए। उस समय रात के साढ़े आठ बजे होंगे। सुबह के ही समान अनुशासित ढंग से फिर खिचड़ी पकने लगी। उनके मुखिया गरम दूध से भरी दो बाल्टियाँ ले आये और कुछ बड़े लड़कों को उत्तरदायित्व सौंपते हुए बोले, "गाड़ी में जितने छोटे बालक, रुग्ण तथा वृद्ध हैं, उन सभी को वे जितना भी माँगें दूध बाँट दो।" नौ बजे तक दूध बाँटा गया। दस बजे खिचड़ी तैयार हो जाने के बाद, वह स्वादिष्ट भोजन ग्रहण करके सभी तृप्त हुए।

सुबह से ही हो रहे इन मर्मस्पर्शी अनुभवों की अब चरम सीमा आ पहुँची थी, उदरपूर्ति के साथ-ही-साथ हमारे हृदय भी भर आए थे।

हमसे अब और नहीं रहा गया, इसलिए हमने उन मुखिया से पूछताछ की। आरम्भ में तो वे उद्धत-से लगे, उन्होंने थोड़ा टाल-मटोल भी किया, किन्तु थोड़ा पीछे लगने पर वे खुल गये। उन सज्जन का नाम था — हरिश्चन्द्र केड़िया। यह पूछने पर कि क्या यहाँ पर इस तरह की सेवा करनेवाली कोई संस्था है, उन्होंने 'नहीं' में उत्तर दिया। उसके उपरान्त कुछ अन्य प्रश्न पूछने पर जो कुछ ज्ञात हुआ, वह बड़ा ही उद्‌बोधक है। उसने बताया, "यह सारा कार्य ग्रामवासियों के द्वारा ही सम्पन्न हुआ है; चावल, आटा आदि तो हमारे पास रहता ही है। अब रही तेल की बात। वह गाँव की दुकानों से लाया गया। कहने को यहाँ मारवाड़ी लोगों के चार-पाँच और कुछ पंजाबी लोगों के भी परिवार हैं। हमारी चावल की मिल है। हम लोगों में आपसी एकता और समझ है। गाँव में किसी भी व्यक्ति के घर कुछ कार्य हो, तो हम सभी उसे मिल-जुल कर निपटाते हैं।"

बाद में ऐसे निःस्वार्थ कार्य के लिए उन्हें धन्यवाद देने की इच्छा व्यक्त करने

करने का ही है। और यह सब कुछ गाँव के इन लोगों के सहयोग से हुआ। उन्होंने तो थोड़ा-बहुत कष्ट अवश्य उठाया, परन्तु उनसे भी कहीं अधिक कष्ट आप लोगों को सहने पड़े। आपकी यह यात्रा कब शुरू हुई और कब समाप्त होगी! आपके कष्टों की तुलना में हमारे कष्ट नहीं के बराबर है।" अब बताइए, इस पर भला क्या कहाँ जा सकता है?

लगभग इक्कीस घण्टों के बाद, प्रातःकाल तीन बजे गाड़ी आगे बढ़ी। बिलासपुर भी पीछे छूट गया। छह बजे मैंने एक समाचार-पत्र खरीदा। वह दंगे, मन्त्रियों के चित्र तथा भड़कीले समाचारों से परिपूर्ण था। परन्तु उसमें जयरामनगर के उस सेवायज्ञ के सम्बन्ध में एक भी पंक्ति देखने को नहीं मिली। अब भविष्य में यदि कभी उस मार्ग से गुजरने का सुयोग हुआ, तो 'जयरामनगर' नाम के उस छोटे-से रामराज्य का वन्दन किये बिना मेरी यात्रा कभी पूरी न होगी। — एक यात्री

□

कर्म और भाग्य

अपने निज के दोष दूसरे के मत्थे मढ़ना मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता है। हम अपने दोष नहीं देखते।... साधारणतः मनुष्य अपने दोषों और भूलों को पड़ोसियों पर लादना चाहता है; यह न जमा, तो उन सबको ईश्वर के मत्थे मढ़ना चाहता है; और इसमें भी यदि सफल न हुआ, तो फिर 'भाग्य' नामक एक भूत की कल्पना करता है और उसी को सबके लिए उत्तरदायी बनाकर निश्चिन्त हो जाता है। परन्तु प्रश्न उठता है कि यह भाग्य नामक वस्तु क्या है और कहाँ रहती है? हम जो कुछ बोते हैं, ऑबस वही तो काटते हैं। हम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं।...

अतएव अपने दोष के लिए तुम किसी को उत्तरदायी मत समझो, अपने ही पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न करो, सब कामों के लिए अपने को ही उत्तरदायी समझो। कहो कि जिन कष्टों को हम अभी झेल रहे हैं, वे हमारे ही किये हुए कर्मों के फल हैं। यदि यह मान लिया जाय, तो यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे फिर हमारे द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं। ...तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है। अतः इस ज्ञानरूप शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो।

— स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण मठ
मालदा ७३२-१०१
(प. बंगाल)

अपील

मित्रो,

'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' – इस महामंत्र को आदर्श बनाकर बेलुड़ में रामकृष्ण मठ तथा मिशन की स्थापना हुई। संघजननी श्री सारदा देवी का आशीर्वाद लेकर १९१४ ई. में श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग पार्षद पूज्यपाद स्वामी प्रेमानन्द जी महाराज मालदा पधारे थे। उनकी प्रेरणा से इस अंचल में जिस उत्साह की सृष्टि हुई, उसके फलस्वरूप १९२४ ई. में बेलुड़ मठ की एक शाखा के रूप में श्रीरामकृष्ण मठ, मालदा की स्थापना हुई। अथक भाव से शिक्षा-प्रसार तथा जनसेवा करना ही इस संस्था मूल उद्देश्य है।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान आयी बाढ़ से पुराने मन्दिर को काफी नुकसान पहुँचा है। अतः विशेषज्ञों की सलाह तथा भक्तों के प्रोत्साहन पर हमने एक नये मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ किया है। रामकृष्ण मठ तथा मिशन के सहाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गहनानन्दजी महाराज ने १ जुलाई, १९९३ ई. को इसकी आधारशिला रखी और हमें यह सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि ११ नवम्बर, १९९४ ई. को, जगद्धात्री पूजा के दिन से मन्दिर का शुभ निर्माण-कार्य आरम्भ भी हो गया है। श्रीरामकृष्ण की असीम अनुकम्पा और सन्तों, भक्तों तथा शुभाकांक्षियों के सहयोग से निर्माण पूरी गति के साथ चल रहा है। बढ़ती महँगाई को ध्यान में रखते हुए कार्य की गति में वृद्धि लाना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त हमने १९९७-९८ ई. में मन्दिर के उद्घाटन की योजना भी बनाई है, जो स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन का शताब्दी वर्ष भी है और निश्चय ही भक्तों के लिए यह एक अविस्मरणीय अवसर सिद्ध होगा।

सभी उदारमना व्यक्तियों से हमारा हार्दिक अनुरोध है कि वे इस महान सत्कार्य में अग्रसर होकर यथासाध्य सहायता करें। इस कार्य के लिए दान नकद, मनिआर्डर, चेक या ड्राफ्ट के द्वारा "रामकृष्ण मठ मन्दिर निर्माण, मालदा" के नाम भेजे जा सकते हैं। ये दान आयकर की धारा ८० जी. के अन्तर्गत आयकर से मुक्त होंगे।

सबसे हार्दिक सहयोग की अपेक्षा है।

भवदीय

दिनांक २६ मार्च, १९९६ **स्वामी मंगलानन्द**

माँ के सान्निध्य में (३६)

सरयूबाला देवी

(मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' के प्रथम भाग से इस अंश का अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। — सं.)

इसके बाद बातचीत के दौरान गौरी-माँ तथा दुर्गा देवी का प्रसंग उठा। माँ ने दोनों की बड़ी प्रशंसा की और बोलीं, "देखो, बेटी, धक्के खाकर तो बहुत से लोग रामनाम लेते हैं, परन्तु जो शैशवकाल से ही अपने मन को फूल के समान ठाकुर के चरणों में दे सकेगा, वही धन्य है। वह लड़की मानो बिना सूँघी हुई फूल है। गौरी-माँ ने उस बालिका को कैसा तैयार किया है! भाई लोगों ने उसका विवाह करने का बड़ा प्रयास किया था, परन्तु गौरदासी उसे छिपाये इधा-उधर भागती फ़िरती थी। आखिरकार पुरी में ले जाकर जगन्नाथ से साथ माला बदलवा कर उसे संन्यासिनी बना दिया। सती सौभाग्यवती लड़की है, कैसा पढ़ना-लिखना भी सीखा है! सुना है कि कोई संस्कृत परीक्षा भी देनेवाली है।" गौरी-माँ के पूर्व जीवन के विषय में भी उन्होंने बहुत-सी बातें कहीं। इससे पता चला कि उनके जीवन से होकर भी कम आँधी-तूफान नहीं गुजरे हैं। वाराणसी की बात उठने पर वे बोलीं, "काशी में अच्छी तरह थी बेटी, और साथ में तो मैं पूरा यदुवंश ही ले गयी थी।"

थोड़ी देर बाद चार-पाँच महिलाएँ आयीं। उन्होंने नारियल तथा कुछ अन्य फल माँ के चरणों के पास रखे। एक महिला उनके निकट आकर प्रणाम करने का उपक्रम करने लगी। इस पर माँ ने कहा, "वहीं से करो।" उनमें से प्रत्येक माँ के सामने दो-चार पैसे रखकर प्रणाम करने लगीं; परन्तु माँ ने बारम्बार पैसे देने से मना किया। उनके कुछ उपदेश चाहने पर माँ ने थोड़ा हँसकर कहा, "मैं और क्या उपदेश दूँगी। ठाकुर की सारी बातें पुस्तकों में निकल गयी हैं। उनकी एक उक्ति की भी धारणा करके यदि कोई चल सके, तो सब हो जाएगा।" माँ ने उनसे छोटी-मोटी बहुत-सी बातें पूछीं। उनके विदा लेने के बाद माँ ने मुझसे कहा, "उपदेश लेने के योग्य आधार कहाँ है? आधार चाहिए, बेटी, नहीं तो नहीं होता।" बातों बातों में ठाकुर के भान्जे हृदय आदि का प्रसंग उठा; दो-एक बातों के बाद ही अन्नपूर्णा की माँ के कमरे में प्रवेश करने से वे बातें दब गयीं। उन्होंने कहा, "माँ, मैंने स्वप्न देखा है, मानो तुम मुझसे कह रही हो, 'मेरा प्रसाद खा, तभी तेरी बीमारी दूर होगी।' मैंने कहा, 'ठाकुर ने मुझे किसी का भी उच्छिष्ट खाने से मना किया

है।' सो माँ, मुझे अपना थोड़ा-सा प्रसाद दो।" माँ के सहमत न होने पर वे खूब जिद करने लगीं।

माँ ने कहा, "ठाकुर ने जिस चीज से मना किया है, वही करना चाहती हो?"

अन्नपूर्णा की माँ ने उत्तर दिया, "माँ, जब तक उनमें और तुममें भेदबुद्धि थी, तब तक वह बात थी, लेकिन अब दे दो।" आखिरकार माँ ने उन्हें प्रसाद दिया।

थोड़ी देर बाद उन लोगों ने विदा ली। गौरी-माँ के यहाँ होकर जाना था, अतः मैंने भी थोड़ी देर बाद विदा ली।

२० या २१ फरवरी को मैं पुनः श्रीमान शोकहरण के साथ वहाँ गयी। सबेरे की पूजा हो चुकी थी। मुझे देखते ही माँ ने कहा, "आयी हो बेटी, अच्छा किया। जयरामबाटी जाने का दिन बदल गया है — २८ को नहीं को नहीं, अब २६ फरवरी को जाना होगा। तुम किसके साथ आयी?"

मैं — शोकहरण लाया है। बड़ी दूर रहती हूँ माँ, आने की सुविधा नहीं होती।

माँ श्रीमान की प्रशंसा करती हुई बोलीं, "अहा, बड़ा अच्छा लड़का है, कितना कष्ट करके ले आया है!" फिर पूछा, "जमाई (मेरे पति) कैसे हैं?"

मैं — बहुत ठीक नहीं हैं, माँ।

थोड़ी देर बाद माँ ने मुझसे एक पत्र का उत्तर लिख देने को कहा। माँ बोलने लगी और मैं लिखने लगी।

दोपहर के भोजन के बाद माँ थोड़ा-सा विश्राम कर रही थीं, उसी समय कलकत्ते की कुछ महिलाएँ उनका दर्शन करने आयीं। माँ लेटे लेटे ही उनसे कुशल पूछने लगीं। दो-एक बातों के बाद ही उनमें से एक कहने लगी, "मेरे यहाँ एक अच्छी बकरी है, जो दो सेर दूध देती है। तीन पक्षी हैं। ये ही सब अब मेरे अवलम्बन हैं। और माँ, मेरी आयु भी तो कम नहीं हुई है।" मुझे इस पर ठाकुर की वह बात याद आ गयी — महामाया बिल्ली पलवाकर संसार में फँसाती हैं! माँ केवल 'हाँ, हाँ' करती रहीं।

अहा! माँ, हम लोगों के लिए तुम्हें कितना कष्ट सहन करना पड़ता है! इस विश्राम के समय भी कितने तरह की बेकार बातें! अपराह्न के समय थोड़ी देर बाद हम लोगों ने विदा ली।

पिछले २६ फरवरी (१९१३) को माँ अपने मैके गयी थीं। और पूजा के पूर्व सितम्बर में वे कलकत्ते लौटी हैं। एक दिन अपराह्न के समय मैंने जाकर देखा कि

एक महिला उनके चरणों में बैठी दीक्षा के लिए रो रही है। माँ चौकी पर आसीन असहमति व्यक्त करते हुए कह रही हैं, "मैंने तो तुम्हें पहले ही मना कर दिया था, क्यों आयी? मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, अभी नहीं हो सकेगा।" वह जितना ही कहती, माँ उतना ही नाराजगी व्यक्त करते हुए कहतीं, "तुम लोगों का क्या? मन्त्र लेकर चली जाओगी; उसके बाद?" तो भी वह महिला छोड़नेवाली न थी। वहाँ उपस्थित सभी नाराज हो उठे। आखिरकार माँ ने कहा, "बाद में आना।" इस पर महिला ने कहा, "तो फिर अपने किसी भक्त बालक से कह दीजिए।"

माँ — वे यदि न सुनें?

महिला — यह क्या, आपकी बात भला नहीं सुनेंगे?

माँ — इस विषय में नहीं भी सुन सकते हैं।

इसके बाद किसी भी हालत में न छोड़ने पर माँ ने कहा, "ठीक है, खोका (स्वामी सुबोधानन्द) से कह दूँगी, वह मन्त्र दे देगा।" तो भी वह महिला कहने लगी, "आपके देने से ही अच्छा होता, आप इच्छा करें तो दे सकती हैं।" यह कहने के बाद वे दस रुपये का एक नोट निकालकर बोलीं, "यह लीजिए, जो भी लगे मँगवा लीजिएगा।" इस प्रकार रुपये देने के प्रस्ताव पर मुझे लज्जा का बोध होने लगा, गुस्सा भी आया। माँ ने अब उसे डाँटते हुए कहा, "यह क्या, मुझे रुपयों का लोभ दिखा रही हो? मैं रुपयों से नहीं भूलती, जाओ, रुपये ले जाओ।" यह कहकर वे उठ गयीं।

बाद में उस महिला के काफी अनुनय-विनय के बाद निश्चित हुआ कि महाष्टमी के दिन दीक्षा होगी। महिला ने तो विदा ली। इसके बाद माँ बगल के कमरे में आकर बैठीं और मुझे पुकारा, "आओ बेटी, इस कमरे में आओ। अब तक तुमसे कुछ भी पूछ नहीं सकी। कैसी हो?"

देर हो रही थी, पूजा का समय हो जाने के कारण अनेक महिलाएँ वस्त्र, मिठाइयाँ आदि लेकर आयी हुई थीं। माँ हँसते हुए उनकी बातों के उत्तर दे रही थीं। बड़ी गर्मी थी, अतः मैं माँ को हवा करने लगी। एक महिला ने आकर बड़े आग्रहपूर्वक मेरे हाथ से पंखा माँग लिया और माँ को हवा करने लगीं। माँ की छोटी-सी भी सेवा कर पाने पर सबको कितना आनन्द होता था! अहा, कितने अपूर्व स्नेहपूर्ण करुणा से माँ हमें आबद्ध कर गयी हैं और उनके निवास से बागबाजार का मातृमन्दिर संसार-ताप से दग्ध लोगों के लिए जिस मधुर शान्ति का निलय बन गया था, उसे कहकर समझाना असम्भव है!

मेरे वापस लौटने का समय हो गया था। माँ को प्रणाम करते हुए मैंने कहा, "माँ, एक बार शीघ्र ही मुझे पिता के यहाँ जाना होगा।" माँ ने स्नेहपूर्वक कहा, "फिर जल्दी आ जाना, बेटी। पत्र आदि लिखना।" माँ के लिए मैं एक वस्त्र ले गयी थी, मेरे लौटते समय वे बोलीं, "अपना कपड़ा दिखाती जाना बेटी, पहनूँगी।"

लगभग ढाई माह बाद (मई के पूर्वार्ध में) मैं एक बार पुनः माँ के पास गयी। सीढ़ियाँ चढ़ते ही नलघर में माँ से भेंट हुई। माँ कपड़े धोने गयी थीं। आधे गीले कपड़ों में ही वे आकर पूछ गयीं, "इतने दिनों बाद क्यों आयी?" कपड़े धोकर आने के बाद उन्होंने तख्त पर बैठकर कुशल आदि पूछा। इसके उपरान्त मैंने पूछा, "उन मन्त्र माँगनेवाली महिला का क्या हुआ, माँ?"

माँ — वह उस दिन नहीं ले सकी। कहा था कि मेरी बीमारी ठीक हो जाय, उसके बाद लेना — वैसा ही हुआ। अस्वस्थ होने के कारण उस दिन वह नहीं आ सकी। उसके काफी बाद एक दिन आकर वह ले गयी।

मैं — तभी तो माँ, आपके मुख से जो बात निकल जाती है, वैसा ही होता है। हम लोग आपकी इच्छा को न मानकर स्वयं ही कष्ट पाती हैं और आप भी कभी कभी दया करके अपने अस्वास्थ में ही दीक्षा देकर हम लोगों का भोग अपने शरीर में लेकर और भी अधिक कष्ट पाती हैं।

माँ ने कहा, "हाँ बेटी, ठाकुर यही बात कहते थे। नहीं तो इन शरीरों में भी भला कहीं रोग होता है? इसी बीच मुझे कॉलरा जैसा भी कुछ हो गया था।"

मेरी भ्रातृवधू भी साथ में गयी थी। उसे देखकर माँ बोलीं, "बहू खूब शान्त है। एक ही तो व्यंजन है और उसमें भी नमक ज्यादा हो, तो बड़ी मुश्किल होती।" अर्थात् मेरी भ्रातृवधू अकेली है, वह भली न होने पर उसके साथ संसार में रहना बड़ा कष्टकर होता।

फरवरी १९१४

एक दिन सुबह उद्यान से बहुत से फूल तोड़कर ले गयी थी। ले जाकर माँ को देने पर वे अतीव आनन्दित होकर उनसे ठाकुर को सजाने लगीं। उनमें नीले रंग के एक तरह के फूल थे। उन्हें हाथ में लेकर वे बोलीं, "अहा, देखती हो कैसा रंग है! दक्षिणेश्वर में आशा नाम की एक लड़की एक दिन उद्यान से काले काले पत्तोंवाले एक पौधे से लाल रंग का एक सुन्दर फूल तोड़ लायी और उसे हाथ में लेकर बारम्बार कहने लगी, 'अरे, ऐसा लाल फूल और उसके ऐसे काले पत्ते! भगवान यह तुम्हारी कैसी सृष्टि है!' यही कहकर वह जोर जोर से रोने लगी। ठाकुर

यह देख उससे बोले, 'तुझे क्या हो गया जी, इतना रो क्यों रही हो?'' वह और कुछ बोल पाने में असमर्थ होकर केवल रोती जा रही थी, तब ठाकुर ने उसे बहुत-सी बातें कहते हुए समझाकर शान्त किया। अहा, ये फूल कैसे नीले रंग के हैं, जरा देखो तो! फूलों के बिना क्या ठाकुर शोभते हैं!'' यह कहकर माँ अंजली भर-भरकर फूल ठाकुर को देने लगीं। पहली बार देते समय कुछ फूल सहसा उनके अपने पाँवों पर गिर पड़े, जिसे देखकर वे बोलीं, ''ओ माँ, पहले ही मेरे पाँव पर गिर पड़ा।'' मैंने कहा, ''अच्छा ही हुआ है।'' मन-ही-मन सोचा — तुम्हारी दृष्टि में ठाकुर भले ही बड़े हों, हम लोगों के लिए तो तुम दोनों एक ही हो।

एक विधवा महिला आयी हैं। माँ से मैंने उनके बारे में पूछा। माँ बोलीं, ''महीने भर पहले दीक्षा ले गयी है। पहले वह किसी अन्य गुरु के पास दीक्षित हुई थी। सो बेटी, मन की गति है कि यहाँ फिर से लिया। गुरु तो सब एक हैं — यह बात उसकी समझ में नहीं आयी।''

दोपहर को प्रसाद पाने के बाद विश्राम करते समय कामारपुकुर की बात उठी। माँ बोलीं, ''ठाकुर जब पेट की बीमारी के कारण कामारपुकुर गये थे, उस समय मैं छोटी-सी बहू थी। ठाकुर थोड़ी रात रहते ही मुझसे कहते, 'कल मेरे लिए ये ये चीजें बनाना।' हम लोग वही वही पकाते। एक दिन छौंक देने को पाँचफोड़न नहीं था। दीदी (लक्ष्मी की माँ) ने कहा, 'तो फिर ऐसे ही कर लेते हैं, नहीं है तो क्या करेंगे।' ठाकुर के कानों में यह जाने पर वे बुलाकर बोले, 'यह क्या जी, पाँचफोड़न नहीं है तो एक पैसे का मँगवा लो न; जिसमें जो पड़ता है उसे डाले बिना काम नहीं चलेगा। तुम लोगों के इस फोड़न के गन्धवाला व्यंजन खाने के लिए मैं दक्षिणेश्वर की खीर आदि छोड़ आया हूँ और तुम लोग वही डालना नहीं चाहती?' तब दीदी ने लज्जित होकर उसे मँगाने भेजा। ब्राह्मणी (योगेश्वरी) भी उन दिनों वहीं थीं। ठाकुर उन्हें माँ कहकर सम्बोधित करते थे। मैं भी उन्हें सास के रूप में देखती तथा डरती थी। वे मिर्च बहुत खाती थीं। वे मिर्च से भरा हुआ भोजन बनातीं और मुझे भी देतीं। मैं आँखें पोंछते हुए खाती रहती। वे पूछतीं, 'कैसा हुआ है?' मैं सहमी-सी कहती, 'अच्छा हुआ है।' रामलाल की माँ कहतीं, 'हाँ, इतना तीता हुआ है कि कहा नहीं जा सकता!' मैं देखती कि इस पर वे नाराज होतीं और कहतीं, 'बहू तो कहती है कि अच्छा हुआ है। तुम्हें तो भाई कुछ भी अच्छा नहीं लगता। आगे से तुम्हें नहीं दूँगी'।'' इतना कहकर माँ खूब हँसने लगीं।

फिर फूलों की बात उठी। माँ ने कहा, ''दक्षिणेश्वर में रहते समय एक बार मैंने रंगन तथा जूही के फूलों से सात लड़ी की माला बनायी थी। अपराह्न के समय

उसे गूँथकर पत्थर के कटोरे में पानी डालकर रखते ही उसकी सभी कलियाँ खिल उठीं। मन्दिर में माँ को पहनाने भेज दिया। माँ के गहने उतारकर उन्हें फूलों की माला पहना दी गयी। उसी समय ठाकुर माँ का दर्शन करने गये थे, देखते ही वे पूर्णतः भावविभोर हो गये। कहने लगे, 'अहा, काले रंग पर क्या ही फब रहा है!' पूछा, 'ऐसी माला किसने गूँथा है?' किसी के मेरा नाम बताने पर वे बोले, 'अहा, उसे एक बार बुला तो लाओ, माला पहनकर माँ का रूप कैसा खिल उठा है, एक बार आकर देख जाय!' वृन्दा-झी आकर मुझे बुला ले गयी। मन्दिर के पास पहुँचते ही मैंने देखा कि बलराम बाबू, सुरेश बाबू आदि माँ के मन्दिर की ओर ही चले आ रहे हैं, अब मैं कहाँ छिपूँ! मैंने वृन्दा का आँचल खींचकर अपने को ढँक लिया और उसकी आड़ में सीढ़ियाँ चढ़ने लगी। ओ माँ, ठाकुर यह बात समझकर कहने लगे, 'अजी, उधर से मत चढ़ो। उस दिन एक मछुवारिन को उधर से चढ़ते हुए पाँव फिसल जाने के कारण गिरकर चोट आ गयी थी। सामने की ओर से आओ न।' उनकी यह बात सुनकर बलराम बाबू आदि थोड़ा खिसककर खड़े हो गये। जाकर मैंने देखा कि ठाकुर माँ के सामने खड़े प्रेम-विभोर होकर भजन गा रहे हैं।'' एक महिला-भक्त के आ जाने पर चल रहा प्रसंग दब गया। मेरे भी चलने का समय हो रहा था। माँ ने कहा कि कपड़े धोकर आने के बाद वे मुझे एक चीज देंगी।

फिर मुक्ति की बात उठी। माँ ने कहा, ''जानती हो वह क्या है बेटी, वह मानो बच्चे के हाथ की मिठाई है। कोई बड़ा ही अनुनय-विनय कर रहा है, 'थोड़ा-सा दे दे न' — तो वह बिल्कुल भी नहीं देगा; पर जिस पर खुश हुआ झट-से उसे दे डालता है। एक आदमी सारे जीवन सिर पटककर भी कुछ नहीं कर पाता और दूसरा घर में बैठा पा जाता है। जैसे ही कृपा हुई, उसे दे दिया। कृपा बहुत बड़ी चीज है।'' यह कहकर वे कपड़े धोने चली गयीं। मुझे जो देने को उन्होंने कहा था, अपराह्न के भोग के उपरान्त उसे बेल के पत्ते में मोड़कर देते हुए वे बोलीं, 'ताबीज बनवाकर पहनना। इस विषय में और किसी को मत बताना। नहीं तो सभी मुझे फाड़ खायेंगे।'' मैंने श्री माँ को बालीगंज में श्रीमान के घर जाने की बात कही। वे बोलीं कि जायेंगी। फिर माँ ने मुझसे कहा, ''मुझे एक चटाई ला देना बेटी, मैं उस पर सोऊँगी।''

मैं — यह तो मेरा सौभाग्य है, अवश्य लाऊँगी।

इतना कहकर मैंने उनसे विदा ली। माँ ने कहा, ''फिर आना।''

(क्रमशः)

'मानस' के आदर्शों का व्यावहारिक पक्ष

स्वामी आत्मानन्द

गोस्वामी तुलसीदास विरचित 'रामचरितमानस' एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें मानव-जीवन की सभी विधाएँ, उसके सारे आदर्श कुशल पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त किये गये हैं। 'मानस' का मूल स्वर है — भगवान् राम की प्राप्ति और उनकी यह प्राप्ति उनके प्रति अनुराग के बिना सम्भव नहीं। *'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।* किएँ जोग जप जाग बिरागा।' अतएव 'मानस' का ताना-बाना इस प्रकार बुना गया है कि श्रीराम की लीलाओं में मन लगे और इस तरह उनके प्रति अनुराग जागे। 'मानस' का कथानक इसी दृष्टिकोण से लिखा गया है कि दशरथनन्दन श्रीराम अपने अनुपम व्यक्तित्व के कारण भक्तों के 'भवभीरहारी' भगवान बन जायँ। यही कारण है कि तुलसी के राम मात्र इतिहास-पुरुष नहीं हैं, वे भावपुरुष भी हैं, तुलसी की दृष्टि मात्र ऐतिहासिक न होकर भावात्मक अधिक हैं। या यों कह लें कि तुलसी केवल भावनेत्रों से ही अपने राम को देखना पसन्द करते हैं। और भाव की यह विशेषता होती है कि वह इतिहास के तंग दायरों को ढहा देता है। यदि श्रीराम मात्र ऐतिहासिक पुरुष होते, तो उनका जन्म आज से कुछ सहस्र वर्ष पूर्व अयोध्या नामक स्थान में दशरथ-कौशल्या के पुत्र के रूप में ही माना जाता, और यह भी स्वीकार किया जाता कि एक दिन उनकी मृत्यु हुई थी। इसका तात्पर्य यह होता कि श्रीराम इतिहास के देश-कालात्मक दायरों से कभी मुक्त न हो पाते। यह तो भाव की विशेषता होती है, जो अपने विशेष्य को देश और काल की सारी सीमाओं से परे करा देती है। तुलसी का भावात्मक दृष्टिकोण राम को सार्वकालिक, सार्वभौमिक और सार्वजनीन बना देता है। तुलसी के ये राम कहीं भी और किसी भी क्षण अवतरित हो सकते हैं। यदि भक्त अपने हृदय को अयोध्याधाम बना लें, तो *'अवध तहाँ जहँ रामनिवासू'* के अनुसार श्रीराम वहीं और उसी क्षण प्रकट हो जाते हैं। यह भावदृष्टि की विशेषता है। इसीलिए 'मानस' के राम का न तो जन्म होता है, न मरण। उनका मात्र प्राकट्य होता है, जैसा तुलसी स्वयं कहते हैं — *'जगनिवास प्रभु प्रकटे अखिल लोक बिश्राम'।*

पर जब भगवान नररूप धारण कर लीला करते हैं, तो कुछ बातें ऐसी भी दिखती हैं, जो सामान्य दृष्टि में खटकती हैं। मनुष्य अपने तर्क और विचारों से उन

बातों का समाधान प्राप्त न कर सकने के कारण सन्देह की स्थिति में पड़ जाता है। मानस के राम की जीवनलीला इसकी अपवाद नहीं है। श्रीराम एक पुत्र, भाई, पति, सखा, शरणागतवत्सल और राजा के रूप में जिन अनुपम आदर्शों की स्थापना करते हैं, उनमें किसी प्रकार का विवाद या सन्देह नहीं हो सकता। धर्मरथ तथा ऐसे ही अन्य प्रसंगों के माध्यम से 'मानस' ने आध्यात्मिक जीवन के निर्माणार्थ जो मौलिक सूत्र रचे हैं, उन पर भी किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इनकी उपादेयता सार्वभौम और निस्सन्दिग्ध है। पर ऐसी भी कुछ बातें हैं, जहाँ मनुष्य तुलसी पर शंका करने लगता है। उदाहरणार्थ, वह बालि-वध और शूर्पणखा-विरूपकरण के औचित्य को नहीं समझ सकता। वह प्रश्न करता है कि आखिर तुलसी ने ढोल गँवार सूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी एवं पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन-गन ग्यान प्रबीना — ऐसी चौपाइयों के माध्यम से किन आदर्शों की स्थापना करनी चाही है? क्या 'मानस' वर्गभेद का पृष्ठपोषक है? क्या वह शूद्र-निन्दक है? हमारा प्रयास इन्हीं कुछ शंकाओं के उत्तर तक सीमित रहेगा।

पहले बालि-वध का प्रसंग लें। राम छिपकर बालि पर बाण चलाकर उसे मारते हैं। जब बालि उनके 'समदरसी' होते हुए भी 'पक्षपात' करने का दोष उन पर लगता है, तो श्रीराम अपने कार्य को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए कहते हैं — तुमने अनुज-वधू को बलपूर्वक अपने पास रख लिया है, इसलिए 'शठ' हो, अध-कर्मी हो, अतएव वध्य हो। अनुज-वधू, भगिनी, सुत-नारी यानी बहू और कन्या — इन चारों को समान दृष्टि से देखना चाहिए। इनको जो कुदृष्टि से देखता है, 'ताहि बधे कछु पाप न होई।' यहाँ पर आक्षेप किया जा सकता है कि राम का उत्तर समाधानकारक नहीं है, क्योंकि जब बालि-वध के पश्चात् सुग्रीव ने उसकी पत्नी तारा का ग्रहण किया तथा रावण-वध के बाद विभीषण ने मन्दोदरी का, तब तो राम कुछ नहीं बोले। इसका उत्तर यह है कि राम जानते थे कि अनार्य-परम्परा में बड़े भाई की पत्नी से विवाह करना संगत है, पर छोटे भाई की पत्नी का ग्रहण जघन्य और अक्षम्य अपराध है। आज भी ऐसी कई जातियाँ हैं, जहाँ यह प्रथा विद्यमान है। अतः उपर्युक्त आक्षेप की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। फिर, भले ही राम उक्त प्रथा को अनार्थ-जाति के सन्दर्भ में मान्यता देते हों, पर वे भी उसे पसन्द नहीं करते। उनकी यह बात प्रकट हो ही जाती है — जेहि अघ बधे ब्याध इव बाली। पुनि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली — वे बालि के कृत्य को 'अघ' की संज्ञा

देते हैं और सुग्रीव के कृत्य को 'कुचाल' की। विभीषण के सन्दर्भ में भी 'मानस' ने कहा – सोइ करतूति बिभीसन केरी, सपनेहु सो न राम हिय हेरी। पर राम इसे क्षम्य अपराध मानते हैं। क्यों? इसलिए कि रहति न प्रभु चित चूक किये की, करत सुरति सय बार हिये की। -- यानी, विभीषण और सुग्रीव में 'हिये' की भावना शुद्ध थी, इसलिए उनका कुचाल क्षम्य और उपेक्षित हुआ।

फिर, यदि राजनीति का दृष्टिकोण अपनाया जाय, तो भी राम निर्दोष साबित होते हैं। यदि आमने-सामने युद्ध की बात होती, तब तो अंगद आदि वीरों को भी सामने आना पड़ता और बहुत से योद्धा, खर-दूषण की सेना के समान, खेत हो रहते। इससे राम जिस सहायता की अपेक्षा सुग्रीव से रखते थे, वह पूरी नहीं हो पाती और व्यर्थ की खून-खराबी हाथ लगती। केवल बालि का वध करके उन्होंने ऐसा संहार रोक लिया और बालि-तनय अंगद को अपना विश्वासपात्र बना लिया। इससे राम का अपना ही लाभ हुआ।

दूसरा प्रसंग है — शूर्पणखा-विरूपकरण का। नारी के प्रति ऐसा अत्याचार अशोमन मालूम पड़ता है। पर यहाँ हम भूल जाते हैं कि शूर्पणखा का विरूपकरण तब तक नहीं किया गया, जब तक वह आततायी का रूप धारण नहीं करती। वह दुष्ट हृदय दारून जस अहिनी तो थी, पर इस कारण उसे दण्ड नहीं दिया गया। जब वह रूप भयंकर प्रणटत भई, तभी दण्डनीय बनी। आततायी तो वध्य हुआ करता है। पर राम अपनी ही करुणा से उसे जीवनदान देते हैं — केवल उसका जो रूप-मद समाज के लिए नैतिकता का राहु बना हुआ था, उसी को नष्ट करने के लिए राम इशारा करते हैं।

यहाँ एक दोष राम पर यह लगाया जा सकता है कि उन्होंने -- अहइ कुमार मोर लघु भ्राता -- कहकर शूर्पणखा से असत्य भाषण क्यों किया? इसका सहज समाधान यह है कि राम पूरी तरह से मानव थे, वे मानवी स्वभाव से युक्त थे, उन्हें भी हास-परिहास प्रिय था। अतः यदि मायाविनी शूर्पणखा के सामने उन्होंने विनोद में यह कहा कि लक्ष्मण कुमार है, तो यह रामचरित्र पर कटाक्ष का कारण नहीं हो सकता, बल्कि वह तो उनके मानवी भाव के माधुर्य को और बढ़ा देता है। फिर, शूर्पणखा विवाहिता होती हुई भी अपना परिचय कुमारी के रूप में देती है। श्रीराम उसी की भाषा का उपयोग करते हैं; उनका मन्तव्य यह है कि जिस अर्थ में तुम कुमारी हो, उसी अर्थ में लक्ष्मण भी कुमार हैं।

तीसरा आक्षेप मानसकार पर यह लगाया जाता है कि वे नारी-निन्दक थे, इसीलिए उन्होंने नारी को 'ताड़न के अधिकारी' माना। इसका समाधान तो मात्र इतने से हो जाता है कि हम इस चौपाई को सन्दर्भित प्रसंग के साथ ही पढ़ें। किसी बात को सन्दर्भ से अलग हटाकर रखने से अर्थ का अनर्थ हो जाया करता है। राम समुद्र से रास्ता माँगते हैं। वह नहीं देता। राम तब क्रुद्ध हो समुद्र के प्रति शठ, कुटिल, कृपण, ममतारत, अतिलोभी, क्रोधी, कामी और ऊसर विशेषण लगाते हुए उस पर बाण का सन्धान करते हैं। इस पर समुद्र भयाकुल हो राम से कहता है — ढोल गँवार शुद्र पशु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी। यहाँ पर समुद्र ने प्रचलित परम्परा को ही अभिव्यक्ति दी है। यदि हम दुराग्रहपूर्वक इसे मानसकार की ही अपनी बात मानें, तो फिर राम से समुद्र के प्रति उसने जो कुछ कहलवाया, उसे भी हम तुलसी की बात के रूप में स्वीकारं करें। फिर, काकभुशुण्डि समुद्र के उद्देश्य से जो कहते हैं — काटेहिं पह कदरी परह कोटि जतन कोउ सींच। विनय न मान खगेस सुनु डाटेहिं पइ नव नीच। — समुद्र नीच है, इसलिए वह काटने और डाँटने योग्य है, जो इसे भी तुलसी के मत के ही रूप में ग्रहण करना होगा। अर्थात् तुलसी समुद्र-जैसी ओछी बुद्धि रखनेवालों को दण्डनीय मानते हैं, जो कि शूद्र और नारी को ताड़ना के योग्य समझती है।

चौथा आक्षेप तुलसी पर यह है कि उन्होंने 'मानस' के माध्यम से 'ब्राह्मणवाद' को प्रश्रय दिया और शूद्रों की निन्दा की। वे शील-गुण-हीन विप्र की तो पूजा का प्रचार करते हैं और 'गुणगण ज्ञान प्रवीण' शुद्र को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। आक्षेप करते समय हम यह भूल जाते हैं कि 'मानस' की कथा के एक वक्ता हैं काकभुशुण्डि, जो एक शकुनाधम कौआ हैं। तुलसी के लिए किसी वर्णविशेष में उत्पन्न शरीर का महत्त्व नहीं, उनके लिए तो वही शरीर 'पावन' और 'सुभग' है, जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा। तात्पर्य यह कि एक आस्तिक, सदाचारी शूद्र का शरीर एक नास्तिक, दुराचारी ब्राह्मण के शरीर की अपेक्षा निश्चय ही अधिक पावन और सुभग है। काकभुशुण्डि-प्रकरण के माध्यम से तुलसी ने शूद्र को वैदिक ब्राह्मण से मंत्र प्राप्त करने तथा मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकारी माना। उनकी दृष्टि में भक्तों की बस एक ही जाति होती है और वे 'मानस' में इस सिद्धान्त का सर्वथा निर्वाह करते हैं।

अन्त में, जो तुलसी सीता-चरित्र की अभिव्यंजना कर सकता है, अहल्या, तारा

और मन्दोदरी के गुणों को उजागर कर सकता है, जो राम के मुख से कैकेयी या मन्थरा के प्रति अनादर का एक भी शब्द नहीं निकलवाता, जो बालि या रावण के मुख से तारा या मन्दोदरी के प्रति एक भी कटु शब्द उच्चारित नहीं कराता, जो सीता-निर्वासन की कल्पना तक नहीं कर सकता और जो भवानी को श्रद्धा का मूर्तिमन्त विग्रह मानकर अपने हृदय का अर्घ्य अर्पित करता है, वह तुलसी कभी नारी-निन्दक नहीं हो सकता। उसके लिए नारी देवी है, माता है, जगजननी है। वह सब जग को 'सीय राममय' देखने का प्रयास करता है। जिस तुलसी के राम अछूत समझे जाने वाले निषादराज एवं कौल-किरातों को अपनी छाती से लगाते हों, काम-प्रधान वानरों और क्रोध-प्रधान राक्षसों को अपना मित्र और सुहृत् मानते हों, नीच जाति में उत्पन्न शबरी के जूठे बेरों को 'प्रेमसहित' खाते हों और उसे 'भामिनी' शब्द से सम्बोधित करते हों, जो तुलसी अपने 'मानस' में राम के द्वारा शुद्रक के वध की कल्पना न कर सकता हो, वह तुलसी कभी भी शुद्र-निन्दक नहीं हो सकता।

सारांश में, 'मानस' के ये सारे निहित आदर्श मानव-समाज को व्यवहार में उदारता, निर्भीकता, शील एवं अन्य समस्त सद्गुणों की ही शिक्षा देते हैं।

विचारों का महत्त्व

विचार ही हमारी कार्य-प्रवृत्ति के नियामक हैं। मन को सर्वोच्च विचारों से भर लो, दिन-पर-दिन ये ही सब भाव सुनते रहो, मास-पर-मास इसी का चिन्तन करो। पहले पहल सफलता न भी मिले; पर कोई हानि नहीं, यह असफलता तो बिल्कुल स्वाभाविक है, यह मानव-जीवन का सौन्दर्य है। इन असफलताओं के बिना जीवन क्या होता! यदि जीवन में इस असफलता को जय करने की चेष्टा न रहती, तो जीवन धारण करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। उनके बिना जीवन में कवित्व ही कहाँ रह जाता?

- स्वामी विवेकानन्द

चरित्र-निर्माण कैसे करें? (२)

स्वामी बुधानन्द

(यह लेख मूलतः रामकृष्ण संघ के आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के दिसम्बर ६६ ई० के अंक में सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ और तदुपरान्त इसे पुनः परिवर्धित करके १९८३ ई. के मई में एक अंग्रेजी पुस्तिका के रूप में निकाला गया। आज के समाज और विशेषकर नवयुवकों के बीच इसके व्यापक प्रसार की आवश्यकता तथा महत्व को ध्यान में रखकर, हम 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिए इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर रहे हैं। पिछले अंक में पूर्वार्ध के बाद अब प्रस्तुत है उसका बाकी अंश। - सं.)

६. चरित्र-निर्माण कैसे करें

कौन नहीं चाहता कि ऐसी बातें उसके जीवन में घटित हों? और हम भी यदि ऐसा ही चाहते हों, तो हमें एक कार्य करना होगा और वह है अपने चरित्र का निर्माण। मनुष्य ही केन्द्रीय विषय है और वही लक्ष्य भी है। मनुष्य जगत की किसी भी उपलब्धि से बढ़कर मूल्यवान है। उसकी अपनी सत्ता से ही उसका पुनर्निर्माण, संवर्धन तथा विमुक्त करना होगा। उपाय है चरित्र-निर्माण।

प्रश्न उठता है कि चरित्र क्या है?

मनुष्य वास्तव में जो है, वही उसका चरित्र है और जैसा कि उसे होना चाहिए, वही उसकी नेकनामी है। चरित्र तथा नेकनामी का एकाकार हो जाना ही जीवन की आदर्श अवस्था है। यूनानी भाषा में चरित्र के पर्यायवाची शब्द का तात्पर्य है — दुनिया में अपने अस्तित्व की शैली को अंकित कर जाना। चरित्र से ही इतिहास का निर्माण होता है।

चरित्र की परिभाषा ऐसे गुणों या विशेषताओं के रूप में की जा सकती है, जो किसी व्यक्ति या वस्तु को दूसरों से पृथक् करती है; किसी व्यक्ति या राष्ट्र के विशेष मानसिक तथा नैतिक गुणों का समुच्चय; अथवा किसी व्यक्ति या वस्तु के अस्तित्व पर प्रकृति, शिक्षा या आदतों द्वारा अंकित व्यक्तित्व की छाप को चरित्र के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं — "तुम्हें चरित्र की, इच्छाशक्ति को सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता है। अपनी इच्छाशक्ति का उपयोग करते रहो और वह तुम्हें ऊपर ले जायेगी। यह इच्छाशक्ति सर्वशक्तिमान है। चरित्र ही कठिनाइयों की संगीन दीवारें तोड़कर अपना रास्ता बना सकती है।"[१] और वे चरित्र की परिभाषा

निम्नलिखित शब्दों में करते हैं — “किसी भी व्यक्ति के संस्कारों की समष्टि, उसकी सभी मानसिक वृत्तियों का संकलन ही उसका चरित्र है। अपने विचारों के द्वारा ही हमारा निर्माण हुआ है। विचार जीवित रहते हैं और वे दूर दूर तक जा पहुँचते हैं। अतः अपने विचारों पर ध्यान दो। हमारा प्रत्येक कार्य, शरीर की प्रत्येक गति, हमारा प्रत्येक विचार चित्त पर एक संस्कार छोड़ जाता है। मन के इन्हीं संस्कारों के योग से हमारे प्रतिक्षण का अस्तित्व निर्धारित होता है। प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र इन संस्कारों की समष्टि से निर्धारित होता है। यदि अच्छे संस्कारों का प्राबल्य हो, तो चरित्र अच्छा हो जाता है और बुरे संस्कारों से वह बुरा हो जाता है।”[2]

चरित्र किसी व्यक्ति के हृदय तथा मस्तिष्क के उन गुणों की समष्टि है, जिसकी रचनात्मक सहायता से वह जीवन के तत्त्वों तथा शक्तियों पर अधिकार कर लेता है और इस प्रकार क्रमशः आत्मिक परिपूर्णता की उपलब्धि कर दूसरों के लिए भी सहायक सिद्ध होता है।

चरित्रवान मनुष्य यदि उन्नति करता है, तो चरित्रहीन व्यक्ति अधोगति को प्राप्त होता है। चरित्रवान व्यक्ति इतिहास का निर्माण करता है और इससे विहीन व्यक्ति इतिहास की मार खाकर रह जाता है। चरित्रवान व्यक्ति मानवता की आशा, सान्त्वना, भलाई, शान्ति तथा प्रेरणा बनता है और चरित्रहीन व्यक्ति समाज में कठिनाइयाँ, संघर्ष, चिन्ता और दुख उत्पन्न करता है।

जीवन के लिए चरित्र इतना महत्वपूर्ण है कि इसके बिना जीवन धारण मृत्यु से भी बदतर है। सम्भव है कि हम जगत को इतने खाद्य-पदार्थों से भर दें कि लोग और लेने से इन्कार कर दें। सम्भव है परिवार नियोजन में हम इतने सफल हो जायँ कि दुनिया में केवल वयस्क ही घूमते दिखाई दें। लोगों के लिए यथेच्छा ले जाने के लिए सड़कों के किनारे लगा सोने की छड़ों का अम्बार भी, सम्भव है कोई न उठावे। सम्भव है कि हम औद्योगीकरण को विश्व में इस सीमा तक पहुँचा दें कि धुएँ भरे कुहरे से सबका दम घुटने लगे। और यह भी सम्भव है कि हमारे द्वारा सुस्थापित विश्व-सरकार अबाध रूप से चलती रहे। तथापि एक चीज के अभाव में कोई भी यह निश्चित रूप से नहीं बता सकेगा कि हम जीवन में विभिन्न प्रकार की ऊब भरी समस्याओं से कैसे निपटें। और वह एक चीज है चरित्र।

चरित्र में ही जीवन की प्रत्येक पहेली को सुलझाने की चाभी छिपी है। इसमें

---

1. Swami Vivekananda on India and Her Problems, Calcutta, Advaita Ashrama, 1976, pp. 55-56. 2. Ibid, p.56

प्रत्येक कुचक्र को तोड़ने की क्षमता निहित है। ऐसा कोई भी रहस्य नहीं, चरित्र जिसका उद्घाटन न कर सके। ऐसा कोई भी घाव नहीं, जिसे यह भर न सके। ऐसी कोई भी इच्छा नहीं, जिसकी यह पूर्ति न कर सके। और ऐसी कोई भी हानि नहीं, जिसकी यह भरपाई न कर सके। अतः जीवन के समस्त रचनात्मक प्रयासों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह जानना है कि हम कैसे स्वयं ही अपने चरित्र का निर्माण करें और अपने सम्पर्क में आनेवाले अन्य लोगों के चरित्र-निर्माण में भी सहायता कर सकें।

हिन्दू मनोविज्ञान के मतानुसार शिशु का चरित्र उसकी गर्भावस्था में ही गठित होने लगता है। माता-पिता के विचार कुछ हद तक आकारहीन शिशु के व्यक्तित्व में अंकित हो जाते हैं। प्राचीन विधिवेत्ता मनु के मतानुसार मानव को रूपायित करनेवाले सामाजिक समूहों में परिवार ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। विवाह एक परिवार में परिणत होता है और शिशु माता-पिता के प्रत्यक्ष एकत्व तथा उनकी उपलब्ध अवस्था का प्रतीक बन जाता है।

माता-पिता तथा शिशु — इन तीनों को मिलाकर बननेवाली परिवार रूपी प्राथमिक इकाई ही शिशु के चरित्र-निर्माण का प्रथम प्रशिक्षण-क्षेत्र है। जाने या अनजाने ही, माता-पिता अपने विचारों तथा कार्यों से शिशु का चरित्र गढ़ते हैं। प्रारम्भ में निश्चेष्ट रूप से ही शिशु में उनके अच्छे-बुरे सारे आचरण संक्रमित हो जाते हैं, उसमें विचार या प्रतिरोध करने की क्षमता नहीं होती। बड़े होने पर एक बालक किस प्रकार का चरित्र प्रकट करेगा, यह प्रायः पूरी तौर से उसके परिवार पर निर्भर करता है।

जब बालक सचेतन रूप से निरीक्षण करना सीखता है, तो वह अपने माता-पिता को देखकर उनका अनुकरण करते हुए, स्वयं के चरित्र का निर्माण आरम्भ कर देता है। अतः यदि उसे देखने, सुनने तथा अनुकरण करने को अच्छी, भली तथा उत्तम चीजें मिलती हैं, तो हम लगभग निश्चित रूप से कह सकते हैं कि यथासमय वह शिशु एक उत्तम चरित्र प्रकट करेगा। परन्तु बचपन में इसके विपरीत अवस्था होने पर, उसका चरित्र भी विपरीत होने की सम्भावना है। चरित्र-निर्माण काफी कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि माता-पिता वर्धमान बालक के मन को किस प्रकार का मानसिक आहार देते हैं। फिर, परिवार में भी शिशु का चरित्र गढ़ने में माँ का प्रभाव ही सर्वोपरि है। इसीलिए मनु (२.४५) कहते हैं —

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते।

— एक सामान्य शिक्षक की तुलना में वेद के आचार्य दस गुने और आचार्य से भी पिता सौ गुने सम्माननीय हैं, परन्तु पिता से भी हजार गुनी सम्माननीय माता हैं।

एक दृष्टि से यह सच है कि आप अपने बच्चों को जैसा चाहते है या जैसा प्रयास करते हैं, उससे बेहतर तो नहीं बना सकते, परन्तु उससे निकृष्ट अवश्य बना सकते हैं। सन्तगण प्रायः आदर्श चरित्रवाले नर-नारियों से ही उत्पन्न हुआ करते हैं। चरित्र-निर्माण के लिए हम बच्चों को जितना शीघ्र पकड़ें, उतना ही श्रेयष्कर है। और यह पकड़ना सन्तान के जन्म के पूर्व भी हो सकता है, बशर्ते कि माता-पिता शुद्ध मन तथा भले विचारों का ही पोषण करें। केवल ऐसे माता-पिता ही वस्तुतः अपनी सन्तानों का चरित्र-निर्माण कर सकेंगे, जो आजीवन निरन्तर अपने स्वयं का चरित्र-निर्माण करते रहते हैं।

बालकों के चरित्र-निर्माण में माता-पिता के बाद शिक्षकों का प्रभाव भी कार्यकारी होता है। यदि माता-पिता तथा शिक्षक सुगठित चरित्र के हैं, तो उनके आश्रित भी निश्चित रूप से वही छाप ग्रहण करेंगे। इसीलिए प्राचीन भारत में शिक्षादान का उत्तरदायित्व आदर्श चरित्रवाले ऋषियों के ऊपर ही न्यस्त था; और उनसे शिक्षा पाना एक वरदान के समान था।

यदि माता-पिता तथा शिक्षकों में चरित्र का अभाव है, तो उनके आश्रित बालकों के भी वैसे ही होने की सम्भावना है। परन्तु जो बच्चे चरित्रवान माता-पिता द्वारा पालित होकर भी चरित्रहीन शिक्षकों के हाथ में पड़ेंगे, या फिर इसके ठीक उल्टा हो, तो उनके व्यक्तित्व में इन दोनों प्रभावों का द्वन्द्व दिखायी देगा।

माता-पिता तथा शिक्षकों द्वारा अनजाने ही, परन्तु निश्चित रूप से पड़नेवाले इन भले-बुरे प्रभावों के अतिरिक्त, उस पर सामाजिक परिवेश का भी सशक्त प्रभाव होता है। केवल घरों में ही चरित्र-निर्माण के द्वारा इस प्रभाव को रचनात्मक ढंग से सम्भाला जा सकता है।

७. चरित्र-निर्माण के उपयोगी साधन

चरित्र-गठन के लिए कुछ उपयोगी साधन हैं, जिन्हें प्रयासपूर्वक विकसित किया जा सकता है। वे हैं —

(१) शरीर तथा मन विषयक समन्वित ज्ञान तथा प्रशिक्षण प्राप्त करना

(२) गीता में कथित देह, मन तथा वाणी के द्वारा त्रिविध तपस्या का अभ्यास

(३) दैवी सम्पदा के अर्जन का प्रशिक्षण

(४) पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट यम तथा नियम के साधनों का अभ्यास

(५) नैतिक सदाचार का संवर्धन
(६) उच्चतर मूल्यों से प्रतिबद्धता
(७) विचार, एकाग्रता, अनासक्ति तथा इच्छा की शक्तियों का विकास
(८) सच्चे शिक्षार्थी के लिए आवश्यक पाँच शक्तियों के विकास का प्रशिक्षण

व्यावहारिक रूप से कहा जाय तो चरित्र-निर्माण का अर्थ है आत्मसंयम। और आत्मसंयम से देह-मन रूपी यंत्रों का ज्ञान तथा उन पर नियंत्रण की क्षमता का बोध होता है। अब हम थोड़े विस्तार में चलते हैं।

श्रीकृष्ण द्वारा गीता में बताये हुए देह, मन तथा वाणी के द्वारा त्रिविध तपस्या का अभ्यास :

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।

— देवताओं, द्विजों, आचार्यों तथा ज्ञानियों की पूजा, स्वच्छता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा — इन्हें शारीरिक तप कहते हैं। (१७/१४)

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।

— ऐसी वाणी जो किसी के मन को पीड़ित नहीं करती, जो सत्य, मधुर तथा हितकर हो और वेदों का नियमित रूप से अभ्यास करना — इन्हें वाचिक तपस्या कहते हैं। (१७/१५)

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।

— चित्त की प्रसन्नता, मुदुता, मौन, आत्मसंयम तथा आन्तरिक शुद्धि — ये मानसिक तप के अन्तर्गत आते हैं। (१७/१६)

तपस्या के नाम पर ही बिदक जाना हम आधुनिकों की आम प्रवृत्ति है, परन्तु यह जान लेना उचित होगा कि सर्वत्र तपस्या का ही साम्राज्य है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता (१७/५-६) में गलत प्रकार की तपस्याओं की बुरी तरह से भर्त्सना की है, परन्तु शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक — इन तीन प्रकार के तपों का वे अनुमोदन करते हैं। श्रीकृष्ण द्वारा निर्देशित इन तीन प्रकार की तपस्याओं का सावधानी के साथ अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि वे मूलतः मनो-दैहिक कार्यकुशलता प्राप्त करने के सूत्र हैं, जिनके द्वारा प्रभावी रूप से हम एक उच्चतर जीवन बिता

सकते हैं। निष्प्राण मनुष्यों में नवजीवन का संचार कराने के लिए इस त्रिविध तपस्या का आश्रय लेने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं। इनका सफलतापूर्वक अभ्यास करने से व्यक्ति में गौण-उत्पाद के रूप में एक महान चरित्र विकसित होगा; जो उसे न केवल जगत में सर्वमुखी कल्याण की प्राप्ति में सक्षम बनायेगा, अपितु आध्यात्मिक दृष्टि से भी उन्नत करेगा।

गीता में श्रीकृष्ण द्वारा बताये गये दैवी-सम्पदों का विवरण :

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।

— निर्भयता, चित्तशुद्धि, ज्ञान तथा योग में निष्ठा, दान, आत्मसंयम, यज्ञ, शास्त्रों -का अध्ययन, तपस्या और सरलता। (१६/१)

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।

— वैरत्याग, सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग, मानसिक शान्ति, किसी की निन्दा न करना, दया भाव, लोभराहित्य, मृदुता, संकोच और अचांचल्य। (१६/२)

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।

— साहस, क्षमाभाव, धैर्य, पवित्रता, विश्वस्तता, अत्यधिक अभिमान का अभाव — ये सभी गुण दैवी सम्पद् के साथ जन्म लेनेवालों में विद्यमान होते हैं। (१६/३)

सम्भव है हममें से अधिकांश लोगों ने दैवी सम्पद् के साथ जन्म न ग्रहण किया हो, तथापि इनकी उपलब्धि की जा सकती है। किस प्रकार? प्रथमतः तो हमें गहन चिन्तन के द्वारा इन शब्दों के गूढ़ तात्पर्य के विषय में अन्तर्दृष्टि विकसित करनी होगी। ऐसा करते करते क्रमशः हमारी समझ में आ जायगा कि क्यों इन्हें दैवी सम्पद् कहते है। सजग मनुष्य के लिए इस दैवी सम्पद् से बढ़कर मूल्यवान जगत में दूसरा कुछ भी नहीं है। हमारे अन्तर में इसके प्रति मूल्यबोध विकसित हो जाने पर, इसे प्राप्त करने के लिए सहज, परन्तु तीव्र आकांक्षा का उदय होगा।

इसके बाद हमारा आन्तरिक संघर्ष आरम्भ होगा। हमें बिना किसी भय अथवा निराशा के इस संघर्ष का सामना करते हुए, इससे होकर गुजरना होगा। हमारे अपने पुराने और विशेषकर गलत संस्कार इसका कठोर प्रतिरोध करेंगे। परन्तु यदि हमें पूर्ण विश्वास है कि इस दिव्य सम्पद् की उपलब्धि के बिना हमारा जीवन निरर्थक है और हम इसकी प्राप्ति के लिए कृत-संकल्प हैं, तो यथोचित संघर्ष के

बाद ईश्वर की अनुकम्पा से इसकी प्राप्ति हो सकती है। जो भी इसकी प्राप्ति में सफल होता है, वह न केवल महान, अपितु एक दिव्य चरित्रवाला व्यक्ति बन जाता है। इस चुनौती को केवल वही स्वीकार कर सकता है, जो युवा, उत्साही तथा बुद्धिमान है और जिसमें आन्तरिक जगत में डुबकी लगाने के अदम्य साहस के साथ ही वीरता, समर्पण तथा अटल आत्मविश्वास भी है।

यम तथा नियम के साधनों का अभ्यास :

महान आचार्य पतंजलि अपने योगसूत्रों (२/३०-३२) में चरित्र-निर्माण की व्यावहारिक आधारशिला के रूप में यम तथा नियम नामक दो ऐसे साधनों का निर्देश करते हैं, जो अपनी पूर्णतः विकसित अवस्था में समृद्ध जीवन के साथ ही दिव्य अनुभूति कराने में भी सक्षम है। जो लोग अपने चरित्र-निर्माण के प्रति गम्भीर हैं, उन्हें इन साधनों के बारे में जानने के बाद तत्काल ही अभ्यास में जुट जाना चाहिए। जीवन क्षणिक है और चरित्र-गठन एक लम्बी प्रक्रिया है; अतः किसी को भी इसके बाद अपना समय बरबाद नहीं करना चाहिए।

यम क्या है? पतंजलि के शब्दों में —

अहिंसा-सत्यास्तेयै-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

— हिंसा न करना, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और संग्रह का अभाव — ये यम कहलाते हैं।

वे आगे कहते हैं —

एते जाति-देश-काल-समयाच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

— ये जाति, स्थान, काल तथा उद्देश्य के नियमों से निरपेक्ष सार्वभौमिक महाव्रत हैं।

अगले सूत्र में पतंजलि की शिक्षा है —

शौच-सन्तोष-तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

— आन्तरिक तथा बाह्य शुद्धि, सन्तोष, तपस्या, शास्त्रपाठ और ईश्वरोपासना — ये नियम हैं।

श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित तीन प्रकार की तपस्याओं तथा दैवी सम्पद् के साथ, पतंजलि द्वारा निर्देशित यम-नियम के साधनों को मिलाकर अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि इनमें कहीं कहीं पुनरुक्ति है। परन्तु ये पुनरुक्तियाँ चरित्र-निर्माण में इनके महत्व को ही रेखांकित करती हैं।

अब हम अन्तिम बिन्दु — सच्चे शिक्षार्थी के लिए आवश्यक पाँच शक्तियों के विकास — को लेते हैं।

अंगुत्तरनिकाय ग्रन्थ में भगवान बुद्ध अपने शिष्यों को शिक्षार्थी के लिए आवश्यक पाँच शक्तियों के विकास का उपदेश देते हैं। इन पाँच शक्तियों के विकास से लाभ उठाने के लिए निर्वाण का साधक होना आवश्यक नहीं है, बल्कि यह किसी भी व्यक्ति को ऐसा चरित्र प्रदान करेगा, जिसे आन्तरिक या बाह्य रूप से नष्ट नहीं किया जा सकता। वह पाठांश इस प्रकार है —

> एक बार भगवान बुद्ध ने शिक्षार्थी की शक्तियों के विषय में उपदेश दिये। वे बोले —
>
> शिक्षार्थी में पाँच शक्तियाँ होती हैं —
>
> (१) श्रद्धा की शक्ति — एक सच्चे शिक्षार्थी को अपने आचार्य पर श्रद्धा होती है और उसे उनकी प्रज्ञा तथा परम तत्त्व सिखाने की क्षमता में विश्वास होता है।
>
> (२) विवेक की शक्ति — सच्चा शिक्षार्थी स्वाभाविक रूप से विवेकी होता है और जब उससे मनसा, वाचा या कर्मणा कोई अनुचित कार्य होता है, तो उसकी अन्तरात्मा में झिझक पैदा होती है।
>
> (३) भय की शक्ति — सच्चा शिक्षार्थी मनसा, वाचा या कर्मणा गलत कार्य से होनेवाले दोषारोपण से डरता है।
>
> (४) उत्साह की शक्ति — सच्चे शिक्षार्थी में समस्त बुराइयों को त्यागने तथा अच्छाइयों को अपनाने का स्थायी उत्साह रहता है।
>
> (५) प्रज्ञा की शक्ति — सच्चे शिक्षार्थी में वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप के विषय में अन्तर्दृष्टि होती है। इसके फलस्वरूप वह विकास में छिपे हुए विनाश को देख लेता है और इस प्रकार दुख के मूल कारण को समाप्त करने के लिए स्वयं को तैयार करता है।
>
> सुनो भिक्षुओ, यदि तुम लोग दुख का नाश करना तथा परम सत्य में प्रतिष्ठित होना चाहते हो, तो तुम्हें स्वयं में श्रद्धा, विवेक, भय, उत्साह तथा अन्तर्दृष्टि को विकसित करना होगा, क्योंकि हे भिक्षुओ, सच्चे शिक्षार्थी की ये ही पाँच शक्तियाँ हैं।[1]

---

1. Sudhakar Dikshit, Sermons and Sayings of the Buddha, Bombay, Chetana, pp. 66-67)

हमें यहाँ पर महान चरित्र गढ़ने के लिए पर्याप्त मूल्यवान सामग्री प्राप्त हो जाती है। अतः अब वास्तुकार को चाहिए कि वह चरित्र रूपी जीवन की इस विशाल अट्टालिका के निर्माण में अपनी कल्पना, ऊर्जा, इच्छाशक्ति तथा उत्साह के उपयोग में लग जाय।

८. चरित्र का रहस्य : एक सुनियोजित जीवन

निःसन्देह हमने मानवीय विचारधारा में उपलब्ध कुछ महानतम भावों पर चर्चा की, जो खुले तथा असीम हैं। परन्तु जहाँ तक इन विचारों के रूपायन का प्रश्न है, इसका सारा रहस्य एक सुनियोजित जीवन में ही निहित है। दिन-पर-दिन ऐसा जीवन बिताकर ही इन महान विचारों को आदत के ढाँचे में परिणत किया जा सकता है और वस्तुतः वही चरित्र बन जाता है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण की शिक्षा है —

नात्यश्नस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।

— जो अत्यधिक या अत्यल्प आहार ग्रहण करता है, उसके लिए योग नहीं है और न ही उसके लिए है, जो अत्यधिक सोता या जागता है। (६/१६)

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।

— जो भोजन व आनन्द में संयमी है, कर्मों में सन्तुलित प्रयास करनेवाला है, सोने व जागने में संयमित है — योग उसके सारे दुखों का अन्त कर देता है। (६/१७)

यदाविनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।

— जब किसी का संयमित चित्त सभी कामनाओं से मुक्त होकर केवल आत्मा में ही प्रतिष्ठित हो जाता है, तभी उसे योगनिष्ठ कहा जाता है। (६/१८)

उपरोक्त श्लोकों में स्पष्ट रूप से योग में सफलता पाने के आकांक्षी साधकों के लिए एक सुनियोजित जीवन बिताने के परम महत्व पर बल दिया गया है। इनमें उसे आश्वस्त करते हुए बताया गया है कि जो लोग एक योगी का सुनियोजित, संयमित तथा सन्तुलित जीवन बितायेंगे, उनके समस्त दुखों का अन्त हो जायगा।

अस्त-व्यस्त तथा अनियमित जीवन बितानेवाला कोई भी व्यक्ति अपने चरित्र का गठन नहीं कर सकता। इसका सहज कारण यह है कि केवल प्रामाणिक साधनों के बारम्बार अभ्यास से ही व्यक्ति अपने अनगढ़ जीवन को एक उदात्त चरित्र के

साँचे में ढाल सकता है।

चरित्र-निर्माण तथा योग के साधन मूलतः अभिन्न हैं। चरित्रहीन व्यक्ति कभी योगी नहीं बन सकता। चरित्रवान बनना अथवा योगी बनना – हमारी चाहे जो भी आकांक्षा क्यों न हो, दोनों की नींव एक सुनियोजित जीवन में ही रखी जा सकती है।

तिरुवल्लुवर कहते हैं –

"जीवन का नियमन जीवन से भी मूल्यवान है, क्योंकि नियमन के द्वारा ही उसे मूल्य प्राप्त होता है।

"सम्भव है कि कोई दर्शनशास्त्रों का अध्ययन करके अपनी शंकाएँ दूर कर ले, परन्तु आखिरकार सुनियोजित जीवन ही काम आता है, अन्य कुछ भी नहीं। अतएव, चाहे जो भी कठिनाई क्यों न आये, उसकी रक्षा करनी चाहिए।

"सुनियोजित जीवन हमारे जीवन के प्रत्येक स्तर को उत्कृष्ट बनाता है। उसमें असफल रहने पर, केवल अच्छा या कुलीन वंश ही मनुष्य की रक्षा नहीं कर सकता।

"शास्त्रों का जो कुछ विस्मृत हो गया है, ब्राह्मण फिर से पढ़कर उसकी भरपाई कर सकता है, परन्तु सुनियोजित जीवन की अवहेलना करने पर वह सदा के लिए अपनी जाति का लाभ खो बैठता है।

"सुनियोजित जीवन सम्मान दिलाता है और उसकी अवहेलना पूर्ण अवनति की ओर ले जाती है।

"विद्वज्जन जब अपनी विद्या के बावजूद सामाजिक सहयोग के सिद्धान्त के अनुसार अपने जीवन को सुनियोजित करने में असफल रहते हैं, तो इस प्रकार वस्तुतः वे अपना अज्ञान ही प्रकट करते हैं।"

इस प्रकार तिरुवल्लुवर ने जोर देकर कहा है कि जीवन का नियमन जीवन से भी मूल्यवान है, क्योंकि इस नियमन के द्वारा ही उसे मूल्य प्राप्त होता है। ये प्राप्त हुए मूल्य ही हमारी चरित्र की शक्ति बन जाते हैं। जब हम उच्च सिद्धान्तों के अनुरूप अपने जीवन को नियमित करने में असफल रहते हैं, तो हम न केवल सामाजिक सहयोगिता में विफल हो जाते है, बल्कि व्यक्तिगत रूप से अन्दर से भी टूटकर बिखर जाते हैं। अतएव, सभी महान आचार्यों ने केवल सैद्धान्तिक ज्ञान की अपेक्षा अभ्यास पर अधिक बल दिया है।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं –

"शास्त्र केवल ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग ही बताते हैं। एक बार मार्ग –

उपाय जान लेने पर फिर पुस्तकों की क्या जरूरत? इसके बाद तो ईश्वरप्राप्ति के लिए स्वयं ही साधना करनी होगी। एक आदमी को अपने गाँव से चिट्ठी मिली। उसके किसी सम्बन्धी ने उसे कुछ चीजें भेजने को लिखा था। जब चीजों को खरीदने का समय आया, तब चिट्ठी नहीं मिल रही थी। उसने बड़ी व्यग्रता के साथ उसकी खोज आरम्भ की। बहुत से लोगों द्वारा काफी देर तक ढूँढ़ने पर चिट्ठी मिल गयी। तब उसे बड़ा आनन्द हुआ और वहबड़ी उत्सुकता के साथ पत्र को हाथ में लेकर पढ़ने लगा। उसमें लिखा था -- पाँच सेर मिठाई, सौ सन्तरे और आठ धोतियाँ भेजो। पत्र का मजमून जान लेने के बाद वह उसे छोड़कर उन चीजों की व्यवस्था करने में लग गया।

"चिट्ठी की आवश्यकता कब तक है? — जब तक कि उसमें लिखी हुई वस्तुओं के विषय में जान न लिया जाय। एक बार उसे जान लेने के बाद उसमें लिखी चीजें प्राप्त करने के प्रयास में लग जाना होगा। इसी प्रकार शास्त्र हमें केवल ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग का -- उनकी प्राप्ति के उपाय का ज्ञान ही कराते हैं। वह सब जान लेने के बाद लक्ष्यप्राप्ति के लिए तदनुसार काम शुरू कर देना चाहिए।"[१]

सदा के लिए अपने चरित्र-निर्माण रूपी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य में जुट जाना ही हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण बात है।

६. चरित्र और आचरण

चरित्र काफी कुछ आचरण का ही नाम है। आप जैसे हैं, वैसा ही आचरण करते हैं। यदि आप अच्छे नहीं, तो कभी अच्छा आचरण नहीं कर सकते। आप और भी अच्छे कैसे बन सकते हैं? प्रयास के साथ विहित या नैतिक आचरण के अभ्यास के द्वारा यह सम्भव है। विहित आचरण क्या है, इसे अपने मन के आवेगों द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता, अपितु इसे शास्त्रों से जान लेना होगा। नैतिक या विहित आचार के बारे में आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२२/१४) का निर्देश है —

"क्रोध, हर्ष, लोभ, भ्रम, अहंकार तथा शत्रुता का अभाव; सत्य बोलना, आहार का संयम, दूसरों के दोषों को प्रकट न करना, ईर्ष्या से मुक्ति, अच्छी चीजों में दूसरों के साथ सहभागिता, यज्ञ, सरलता, सौम्यता, शान्ति, आत्मसंयम, सभी जीवों के प्रति मैत्री, क्रूरता का अभाव, सन्तोष — ये मानव जीवन की सभी अवस्थाओं के लिए विहित आचार हैं। इनका ठीक ठीक पालन करने से मनुष्य सार्वभौमिक रूप से कल्याणकारी हो जाता है।"

---

१. अमृतवाणी, द्वितीय संस्करण, पृ. ४१

यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि इन विहित या नैतिक आचारों के अनेक तत्त्व गीता के सोलहवें अध्याय के प्रथम तीन श्लोकों में निर्देशित दैवी सम्पद् के साथ एकरूप हैं।

यहाँ विशेष रूप से देखने मे आता है कि किस प्रकार आत्मसंयम तथा दूसरों के प्रति सम्मान का भाव इन विहित या नैतिक आचारों में समाहित हैं।

परन्तु यदि हमने पूर्ण मानवीय व्यक्तित्व तथा इसकी पूर्ण अवस्था का ध्यान रखनेवाली पुरुषार्थों की ठोस व्यवस्था के प्रति सुदृढ़ प्रतिबद्धता नहीं विकसित की है, तो केवल नैतिक आचार ही जीवन की विविध कठिन परिस्थितियों का दबाव सहन करने में सक्षम नहीं होंगे। पुरुषार्थों की भारतीय व्यवस्था में इन चार का उल्लेख किया जाता है — धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। मनुष्य के मनोभाव को इस प्रकार प्रशिक्षित करना होगा कि उसे धर्म के द्वारा काम तथा धन की उपलब्धि में अर्थबोध हो और क्रमशः वह मोक्ष को ही धर्म का उद्देश्य समझने लगे।

इस प्रकार की मानसिकता का विकास इस बात पर निर्भर करेगा कि हमने विहित आचारों के सन्दर्भ में अपना जीवन किस प्रकार बिताया है।

पुरुषार्थों की ठोस समझ रखनेवाला व्यक्ति ही चरित्र-निर्माण के उद्देश्य तथा तात्पर्य की धारणा कर सकता है। बाकी लोग इसका कोई तात्पर्य नहीं समझते। परन्तु आत्म-सन्तुष्टि की उपलब्धि अन्तर से उठनेवाली एक चिरकालीन चुनौती है, जिसे कोई भी विचारवान व्यक्ति कदापि टाल नहीं सकता।

चरित्र आत्मसंयम की एक ऐसी अर्जित गति है, जो स्वप्रयास के द्वारा ही अपने भीतर आरम्भ होती है। सत्य-असत्य के सहज विचार, असत्य का त्याग और सत्य के प्रति दृढ़ लगाव के रूप में एक अथक परन्तु सुनियोजित संघर्ष के द्वारा यह प्रक्रिया हमारे भीतर चलती रहती है। एकाग्रता तथा अनासक्ति — दोनों ही शक्तियों का एक साथ विकास करना होगा। इच्छाशक्ति का विकास ही सभी महत्वपूर्ण उद्यमों में सफलता का रहस्य है। अपने कर्तव्यों के प्रति प्रेम के द्वारा हम इस इच्छाशक्ति का विकास कर सकते हैं।

जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में हमें जैसा आचरण करना चाहिए, यद्यपि इस विषय में हमें बहुत कुछ सीखना है, तथापि हमें जिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है, उनके बारे में पहले से ही जान लेना सम्भव नहीं और किसी को भी इस विषय में चिन्तित होने की आवश्यकता भी नहीं। प्रत्येक अवसर या समय के लिए उचित आचार का निर्धारण नहीं किया जा सकता। हमारे सद्‌भाव के बावजूद हमारे पूर्व-नियोजित सदाचार कृत्रिम सिद्ध हो सकते है।

वस्तुतः सदाचार में सद्यः प्रस्फुटित पुष्प की सी एक मृदु सुगन्ध होती है। यह उस व्यक्ति के अन्तर से सहज ही उठती रहती है, जिसने बिना किसी बाह्य दबाव के, स्वयं ही अपने चुने हुए जीवन-मूल्यों से प्रेरित होकर प्रयासपूर्वक अपने को विकसित कर लिया है।

जिन लोगों ने इस पुस्तिका के छठें परिच्छेद में वर्णित साधनों का अभ्यास किया होगा, उन्हें देर-सबेर यह पता चल जायगा कि समझदार व्यक्ति का सबसे विश्वस्त पथ-प्रदर्शक उसके भीतर ही है। उसके बाद भी उन्हें जीवन भर विनयशील शिक्षार्थी बने रहकर, कहीं से भी आनेवाले प्रामाणिक उपदेशों के प्रति अपने मन को खुला रखना होगा।

१०. चरित्र की आदर्श अवस्था

कन्फूशियस कहते हैं, "विश्व-व्यवस्था से जोड़नेवाले अपने नैतिक स्वत्व के केन्द्रीय सूत्र (या केन्द्रीय सामंजस्य) को पा लेना ही वस्तुतः सर्वोच्च उपलब्धि है।"[१] सच कहें तो यही चरित्र-निर्माण की आदर्श अवस्था है।

विभिन्न व्यक्तियों, समाजों तथा राष्ट्रों की अलग अलग आवश्यकताएँ होती हैं। और विविध प्रकार से उनकी परिपूर्ति की जाती है। परन्तु सभी देशों के निवासी सम्पूर्ण मानवजाति की एक सार्वभौमिक आवश्यकता भी है। वह है चरित्र की आवश्यकता।

मानवजाति आज एक ऐसे स्थान पर आ पहुँची है, जहाँ कि विश्व के किसी भी हिस्से में रहनेवाले प्रत्येक विचारवान व्यक्ति को इस आवश्यकता पर नये सिरे से ध्यान देना होगा और वह है अधिक-से-अधिक चरित्र के निर्माण की, अधिकाधिक मात्रा में चरित्र का विकास करने की और अपने परिवार तथा समाज के सदस्यों को यथासम्भव वैसा ही करने में सहायता देते हुए, स्वयं एक सच्चा तथा सुयोग्य मनुष्य बनने की आवश्यकता। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं — "बनो और बनाओ — यही हमारा मूलमंत्र रहे।"[२]

□

---

1. Lin Yutang, The Wisdom of China and India, New York, The Modern Library, 1942, p. 831

२. विवेकानन्द साहित्य, कलकत्ता, अद्वैत आश्रम, १९६३, खण्ड-६, पृ. ३७६

हमारी वैदिक विरासत

शोभा निगम

हमारा यह भारत देश कभी अपने धन-वैभव के कारण सोने की चिड़िया कहलाता था। यहाँ दूध और घी की नदियाँ बहा करती थीं। ऐतिहासिक साक्ष्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि हमारी इस सोने की चिड़िया के पर नोचने के लालच में विदेशी आक्रान्ता बारम्बार यहाँ आते रहे। विश्व के सम्पन्न देशों के सामने अपने दारिद्रय के कारण अपने को बौना महसूस करते हुए हम इस बात पर अफसोस जाहिर करते हैं कि काश हमारा वह जमाना बना रहता। 'सर्वे गुणा कांचनमाश्रयन्ति' का विचारकर हमने आजादी के बाद नए सिरे से विचार एवं प्रयत्न भी किया है ताकि विज्ञान एवं तकनीक की सहायता से हमारी गरीबी को दूर किया जा सके। परन्तु शायद हम भूल गये हैं कि आज हमारे सामने गरीबी से कहीं बढकर संस्कार-हीनता की समस्या है। निरन्तर बढ़ते जा रहे तरह-तरह के अपराध व अन्य बुराइयों का कारण क्या यह नहीं है कि हम अपने उच्च मानवीय संस्कारों को खो बैठे हैं? अपनी संस्कृति से, अपनी जड़ से हम कटते जा रहे हैं। जड़ से कटा हुआ वृक्ष भला कब तक हरा-भरा रह सकता है?

आज हम अपने पूर्वजों की स्वर्ण एवं हीरे-जवाहरात के रूप में जोड़ी गई पूंजी के लूटे जाने की मातम तो मनाते हैं; पर हम अपने उस अमर, अक्षय, अमोल, सांस्कृतिक धरोहर की कोई परवाह नहीं करते, जो हमारे पूर्वजों ने असीम परिश्रम के द्वारा इकट्ठी की थी। युग युग की कठोर तपस्या के पश्चात हमारे ऋषि-मुनियों ने जिन सत्यों की अनुभूति की, उसे उनके उत्तराधिकारियों ने केवल श्रवण परम्परा के द्वारा ही सदियों तक सुरक्षित रखा और बाद में बड़े परिश्रम से उसे लिपिबद्ध किया। उनके ऐसे अमर विचार आज प्रेस की कृपा से सर्वजन के लिए सुलभ हैं, किन्तु वह अमोल थाती क्या आज ग्रंथालयों या घरों में पड़ी धूल नहीं खा रही है? कितने अफसोस की बात है कि आधुनिक पीढ़ी अपने उन महान साहित्यकारों तथा उनकी कृतियों के नाम से भी अपरिचित है जिनकी कीर्तिगाथा से आकृष्ट होकर कभी चीन, यूनान, सीरिया, रोम आदि सुदूर देशों से असंख्य विद्यार्थी हजारों मील की पैदल यात्रा करते हुए भारत आते थे और आजीवन इनका अध्ययन-मनन करते हुए अपना जीवन धन्य मानते थे। वस्तुतः आज के माहौल में यह और भी ज्यादा

जरूरी हो गया है कि हम अपनी संस्कृति, अपने साहित्य, अपनी परम्परा एवं अपने विद्वान पूर्वजों का परिचय प्राप्त करें। हम जानें तो सही कि वह कौन-सा तत्व था, जिसकी अनुभूति पाकर हमारे वैदिक ऋषि आनन्द से अभिभूत हो उठे थे।

वेदाऽहमेतं पुरुषं महान्तमं आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्।

— अर्थात् मैंने अन्धकार से परे उस आदित्य वर्ण के (ज्योतिर्मय) पुरुष को जान लिया है।

इस आदित्यवर्ण पुरुष की ऐसी क्या विशेषता थी कि उसे जाननेवाला अभय एवं अमर हो जाता था। उसके हृदय की गाँठें टूट जाती थीं। उसके सारे सन्देह तथा मोह नष्ट हो जाते थे। वह शोक के पार हो जाता था। वस्तुतः यही तो वह तत्व था, जिसे जानने के लिए कठोपनिषद में वर्णित बालक नचिकेता मृत्युदेव यम के द्वारा दिए गए संसार के सारे धन-वैभव को ठुकराकर खड़ा रहता है और वृहदारण्यक उपनिषद में महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी पति द्वारा प्रदत्त संपत्ति को अस्वीकार करते हुए उस तत्व की जिज्ञासा करती हैं, जो अमरता दिला सके।

हमारा सम्पूर्ण वैदिक साहित्य उच्च जीवन मूल्यों का प्रतिपादन करनेवाले ऐसे सैकड़ों उदाहरणों से भरा पड़ा है, जो मनुष्य को 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की ओर अग्रसर होने को प्रेरित करते हैं। किन्तु उपरोक्त उदाहरणों का तात्पर्य यह नहीं है कि हमारे पूर्वजों ने भौतिक जीवन की पूर्णतः उपेक्षा की थी अथवा जीवन को सर्वथा रसहीन बनाने पर बल दिया था, बल्कि हमारा प्राच्य साहित्य गवाह है कि जीवन के विविध रसों की सर्वोच्च अभिव्यक्ति यदि संसार के किसी साहित्य में हुई है, तो वह और कोई नहीं हमारा अपना प्राच्य साहित्य ही है। जैसा कि आचार्य चतुरसेन कहते हैं, ''सारी पृथ्वी पर यदि कोई महत्वपूर्ण वस्तु है, जो मानवीय कल्पना और कोमल भावना को अमर बना देती है, तो वह संस्कृत साहित्य है।'' आचार्य चतुरसेन तो खैर अपने हैं, परन्तु हमारे लिए गर्व की बात यह है कि अनेकानेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से हमारे प्राच्य साहित्य की प्रशंसा की है, उसे दुनिया का सर्वोत्तम साहित्य बताया है। विलियम जोन्स, कोलब्रूक, हैमिल्टन, श्लेगेल बन्धु, प्रो. जैसी, क्रिश्चियन लॉसन, फ्रैंज बॉब, फॉन हम्बोल्ट, फ्रेड्रिक रोजेन, पूजेन बर्नफ, रूजोल्फ रॉथ, मैक्समूलर, ग्रासमैन, कीथ वेबेर आदि तथा अन्य भी अनेकानेक विदेशी विद्वान हमारे लिए प्रणम्य है, जिन्होंने हमारी गुलामी के दिनों में हमारी देवभाषा का पुनरुद्धार किया, इसे विश्व के साहित्यकाश पर प्रतिष्ठित किया, बड़ी लगन, मेहनत एवं अध्यवसाय से अनेकानेक प्राचीन ग्रन्थों का अपनी-अपनी

भाषा में अनुवाद किया तथा कई तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विवेचन किए।

यहाँ उल्लेखनीय है कि हमारां सम्पूर्ण प्राच्य साहित्य केवल संस्कृत भाषा में नहीं रचा गया है। यह मोटे तौर पर तीन भाषाओं में है। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य जिस भाषा में है, उसे 'आर्य भाषा' या 'वैदिक भाषा' कहा जाता है। वस्तुतः यही वैदिक भाषा कालान्तर में संस्कृत में रूपान्तरित हुई है। अव्याकृत होने के कारण यह कठिन थी, अतः पाणिनी नामक प्रसिद्ध वैयाकरण ने इसका परिस्करण किया, इसीलिए यह संस्कृत कहलायी। संस्कृत का अर्थ ही होता है — वह जिसका संस्कार अर्थात् परिष्कार किया गया हो। रामायण और महाभारत इसी देववाणी में रचे गए प्रारम्भिक ग्रन्थ हैं। फिर तो यह हमारे देश के ब्राह्मणों तथा अन्य शिक्षितों की बोलचाल की प्रिय भाषा ही बन गई थी। किन्तु अन्य सामान्य-जन अपने विचार प्राकृत भाषा में प्रकट करते थे। ब्राह्मण-धर्म की कतिपय कमजोरियों के विरोध में जब बुद्ध एवं महावीर ने बौद्ध तथा जैन धर्म का प्रचार किया, तब उन्होंने सामान्य-जनों से जुड़कर अपने विचार प्राकृत भाषा में ही व्यक्त किए। इसीलिए जैनों एवं बौद्धों का विशाल साहित्य हमें उस भाषा में भी मिलता है। कहने का तात्पर्य यह कि हमारा प्राच्य साहित्य वैदिक, संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं (जिसमें प्राकृत, पालि, अपभ्रंश, मागधी, शौरसेनी आदि भाषाएँ आती हैं) का विशाल उपवन है। इस उपवन में इन भाषाओं में लिखे साहित्य की असंख्य मंजरियाँ न जाने कबसे निरन्तर अपनी दिव्य सुगन्ध बिखेर रही हैं। ... ऐसी सुगन्ध, जो हमारे मन, प्राण व आत्मा को सुवासित करने की सामर्थ्य रखती हैं। प्रस्तुत लेखमाला में 'प्राच्य मंजरी' के माध्यम से हम ऐसी ही कुछ मंजरियों का परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रारम्भ हम वेदों से करेंगे, जो कि विश्व साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ माने जाते हैं, जैसा कि रेगजिन ने कहा है, "लेश मात्र भी सन्देह के बिना हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद समूचे आर्यराष्ट्रों के परिवार में सबसे प्राचीन पुस्तक है।" इसी तरह ब्लूमफील्ड का भी कहना है, "ऋग्वेद भारत की सबसे प्राचीन साहित्यिक कृति ही नहीं, अपितु भारत तथा यूरोपवासियों — दोनों की सबसे प्राचीन धरोहर है।" वेद चार हैं — ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। इन चारों वेदों में भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, सभ्यता एवं विज्ञान के बीज देखे जा सकते हैं! हिन्दू परम्परा में, वेद अपौरुषेय एवं नित्य माने जाते हैं। वेदों में ऋग्वेद का स्थान प्रथम है। इसमें आर्यों के उन दिव्य गीतों का संकलन है, जो उनकी प्राचीनतम धरोहर है। इसमें प्रकृति की विभिन्न शक्तियों — यथा सूर्य, अग्नि, वायु आदि को देवत्व का दर्जा

देकर उनकी बड़ी सुन्दर स्तुतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त इन्द्र, वरुण, मित्र, यम आदि भी इनके देवता हैं। जिनसे वे शक्ति, बल, तेज, धन-धान्य तथा शत्रुनाश की तथा सन्मार्ग दिखाने की प्रार्थना करते हैं, किन्तु हमारे वैदिक आर्यों ने शीघ्र ही यह जान लिया था कि ये सब देवता एक परमेश्वर के ही विभिन्न रूप हैं, जैसा कि निम्नलिखित सूक्त (ऋग्वेद १/१६४/४६) में कहा गया है —

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुस्थो दिव्यः स सुपर्णा गरुत्मानं।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातारिश्वानमाहुः।

— अर्थात् उसी को इन्द्र, मित्र, वरुण तथा अग्नि कहा जाता है। वही दिव्य सुपर्ण गरुड़ (महान आत्मा) कहलाता है। विद्वज्जन उसी एक 'सत्'रूपी परमात्मा का अनेक प्रकार से वर्णन करते हुए उसे अग्नि, यम और माता रिश्वा कहते हैं। (क्रमशः)

स्वामी विवेकानन्द का भक्तियोग

स्वामी विदेहात्मानन्द

वेद विश्व के प्राचीनतम धर्मग्रन्थ हैं और उनका चरम उत्कर्ष हमें उपनिषदों अर्थात् वेदान्त में प्राप्त होते हैं। उपनिषदों में समस्त साधना-प्रणालियों और साथ ही भक्तिमार्ग के भी बीज प्राप्त होते हैं। महाभारत काल में भक्ति-परम्परा और भी पुष्ट हुई। गीता में भगवान ज्ञान, कर्म तथा राजयोग का निरूपण करने के पश्चात् बारहवें अध्याय में भक्तियोग तथा अन्तिम भाग में शरणागति का उपदेश देते हैं। तदुपरान्त विष्णु पुराण, श्रीमद्भागवत तथा श्री रामानुजाचार्य के साहित्य में हम भक्ति के तत्वों को पूर्णतः पल्लवित और पुष्पित होते देख पाते हैं। शाण्डिल्य तथा नारद ने इन्हें सूत्रों में पिरोकर सहजगम्य किया और मध्यकाल में श्री वल्लभाचार्य, श्री चैतन्य, सन्त ज्ञानेश्वर, नरसी मेहता, विद्यापति, सूर, तुलसी, मीरा, कबीर आदि विभूतियों की इस परम्परा ने इसे जन-जन के गले का हार बना दिया। पिछली शताब्दी में सम्पूर्ण हिन्दू धर्म एक बड़े संकटकालीन दौर से गुजर रहा था। एक ओर तो राजाश्रय पाकर ईसाई मिशनरी इस पर हर प्रकार से आक्रमण कर रहे थे और दूसरी ओर आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से उन्मत्त सुधारकगण इसे अन्धविश्वासों का एक पुलिन्दा मानकर, इसकी काट-छाँट में लगे थे। ऐसे समय भगवान श्रीरामकृष्ण का अवतरण हुआ। वे मानो समग्र धर्म के उदात्त तत्त्वों के साकार विग्रह थे। उन्होंने भक्ति के महान वृक्ष को नवीन जीवनरस से सिंचित किया तथा अपने प्रधान शिष्य स्वामी विवेकानन्द को इसके विश्वव्यापी विस्तार में नियोजित किया।

स्वामीजी के मतानुसार भक्तियोग के मूल तत्त्व इस प्रकार हैं —

१. भक्ति की परिभाषाएँ

सच्चे और निष्कपट भाव से ईश्वर की खोज को भक्तियोग कहते हैं। इस खोज का आरम्भ, मध्य तथा अन्त केवल प्रेम में ही होता है। देवर्षि नारद ने 'भगवान के प्रति उत्कट प्रेम' को भक्ति कहा है। ईश्वर के प्रति इस प्रेमोन्मत्तता का एक क्षण भी हमें शाश्वत मुक्ति देनेवाला होता है।

शास्त्रों में निरन्तर स्मरण को उपासना बताया गया है। जैसे एक पात्र से दूसरे पात्र में तेल ढालने पर वह एक अखण्ड धारा के रूप में गिरता है, वैसे ही 'ध्येय वस्तु के निरन्तर स्मरण' को ध्यान कहते हैं। यह स्मरण दर्शन के ही समतुल्य है।

श्री रामानुज ने इस 'निरन्तर स्मृति' को ही भक्ति कहा है।

शाण्डिल्य के मतानुसानर 'ईश्वर के प्रति परम अनुराग ही भक्ति है।' ईश्वर की महिमा जानने के बाद उनके प्रति उमड़नेवाले प्रेम क ही भक्ति कहते हैं। भक्तराज प्रह्लाद ने प्रार्थना की थी, "हे प्रभो, अज्ञानियों के हृहय में विषयभोगों के प्रति जो तीव्र आसक्ति होती है, वही तुम्हारा स्मरण करते समय मेरे हृदय में विद्यमान रहे।"

भक्तियोग परमलक्ष्य की प्राप्ति का एक सरल, सहज तथा स्वाभाविक पथ है, परन्तु कभी-कभी इसमें निम्न श्रेणी के भक्तों द्वारा कट्टरता आ जाती है। भक्ति-साधक को सदैव स्मरण रहे कि यद्यपि बाह्य क्रियाएँ तथा अनुष्ठान प्रारम्भिक दशा में नितान्त आवश्यक है, तथापि भगवान के प्रति प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न कर देने के अतिरिक्त उनकी अन्य कोई उपयोगिता नहीं। भक्ति तथा ज्ञान के मार्गों में मूल अन्तर यह है कि ज्ञानयोगी ज्ञान को मुक्ति का एक साधन मात्र मानता है, जबकि भक्तियोगी के लिए भक्ति साधन तथा साध्य दोनों ही है। जब गौणी या वैधी भक्ति अन्ततः पराभक्ति में परिणत हो जाती है, तो दोनों मार्गों का मिलन हो जाता है, क्योंकि पूर्ण भक्ति तथा पूर्ण ज्ञान अभिन्न हैं। इस आधार पर भक्ति की एक सर्वांगपूर्ण परिभाषा देते हुए स्वामीजी कहते हैं — "आध्यात्मिक अनुभूति के निमित्त किये जानेवाले मानसिक प्रयत्नों की परम्परा या क्रम ही भक्ति है, जिसका आरम्भ साधारण पूजा-पाठ से होता है और अन्त ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ एवं अनन्य प्रेम में।"

२. ईश्वर का दार्शनिक विवेचन

नारद के मतानुसार 'ईश्वर अनिर्वचनीय तथा प्रेम स्वरूप' हैं। और व्यासदेव के शब्दों में ईश्वर वे हैं जो 'विश्व का सृजन, पालन तथा प्रलय' करते हैं। महान आचार्यों ने जीव तथा ईश्वर में यही भेद बताया है कि मनुष्य सिद्ध होने के उपरान्त ईश्वर के सभी गुण प्राप्त कर लेता है, परन्तु जगत का नियन्ता नहीं हो सकता। यही ईश्वर का वैशिष्ट्य है।

ब्रह्म का निर्गुण-निरपेक्ष एकमेवाद्वितीय स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रेम तथा उपासना के उपयुक्त नहीं हैं, अतएव ब्रह्म के सगुण-सापेक्ष भाव अर्थात् परम नियन्ता ईश्वर को ही भक्त अपने उपास्य के रूप में ग्रहण करता है। भक्ति केवल सगुण ईश्वर के प्रति ही की जा सकती है। ब्रह्म के सम्बन्ध में हम ऐसी कोई धारणा नहीं कर सकते, जो मानवीय लक्षणों से युक्त न हो। ब्रह्म मानो मिट्टी का वह लौदा है जिससे विभिन्न आकृतियाँ बनती हैं; आकृतियाँ वैचित्र्य उत्पन्न करती हैं, तथापि मिट्टी के गुण उसमें विद्यमान रहते हैं। अतः स्वामीजी के मतानुसार

— "मानव मन निरपेक्ष सत्य की जो उच्चतम धारणा कर सकता है, वही ईश्वर है।" इसके उपरान्त वे 'सत्य' शब्द को भी 'ईश्वर' का समानार्थी बताते हैं।

३. भक्तियोग का लक्ष्य : आत्मानुभूति

भक्तिमार्ग की परिपक्व अवस्था को पराभक्ति कहते है। परन्तु प्रारम्भिक साधना की अवस्था में इस प्रकार अग्रसर होने के लिए कुछ स्थूल सहायकों की अनिवार्य आवश्यकता होती है। प्रत्येक धर्म के अनुष्ठानों को गौणी भक्ति कहते हैं। पराभक्ति की उपलब्धि हो जाने पर साधक बुद्धि, तर्क एवं पाण्डित्य के परे पहुँच जाता है, जहाँ प्रत्यक्षानुभूति के दिवालोक से सब कुछ उद्भासित हो उठता है; इसी को ईश्वर-साक्षात्कार कहते हैं। धर्मानुष्ठान तथा आध्यात्मिक अनुभूति का कण मात्र भी टनों थोथी बकवास तथा अन्ध-भावुकता से बढ़कर है। भगवत्प्रेम ही जीवन का एकमात्र व सर्वोच्च ध्येय है। आज के इस घोर भोगलिप्सामय जगत में भी ऐसे कुछ महात्मा अवश्य है और उनके चरणों में बालक की भाँति बैठकर हमें श्रवण करना चाहिए।

४. गुरु की आवश्यकता

प्रत्येक जीवात्मा का अन्त में पूर्णत्व की उपलब्धि करना निश्चित है तथा हमें बाह्य सहायता की नितान्त आवश्यकता है। पुस्तकों का अध्ययन हमारे आध्यात्मिक विकास के लिए यथेष्ट नहीं है। जीवात्मा की शक्ति को जाग्रत करने के लिए किसी अन्य आत्मा द्वारा शक्ति-संचार होना चाहिए। इन शक्ति के संचारक आत्मा को ही गुरु कहते हैं। गुरु तथा शिष्य दोनों में ही शक्ति संचरण तथा शक्ति-ग्रहण की क्षमता होनी चाहिए, तभी आध्यात्मिक जागृति सम्भव है। यदि शिष्य में यथार्थ धर्मपिपासा हो अर्थात् उसका जीवन खेत भलिभाँति जुता हुआ हो, तो प्रकृति के नियमानुसार आध्यात्मिक शक्ति का बीज लेकर गुरु स्वयं ही आ जाते हैं। शिष्य के बारे में आशंका यह है कि कहीं वह अपनी क्षणिक भावुकता को सच्ची ज्ञानपिपासा न समझ बैठे और गुरु के विषय में खतरा यह है कि अनेक अज्ञानी जन भी अहंकार तथा भ्रमवश अपने को सर्वज्ञ समझ बैठते हैं।

५. गुरु तथा शिष्य के लक्षण

प्रश्न उठता है कि हम गुरु को कैसे पहचाने? वस्तुतः जब योग्य शिष्य के पास सद्गुरु का आगमन होता है, तो उसकी आत्मा दिन के प्रकाश के समान स्वतः ही जान लेती है। परन्तु अधिकांश साधक ऐसी अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न नहीं हैं, अतः गुरु तथा शिष्य के मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित कसौटियाँ तथा शर्तें बताई गई हैं —

शिष्य के अन्दर (क) पवित्रता अर्थात् तन, मन तथा वाणी की शुद्धता हो (ख) व्याकुलता या सच्ची ज्ञानपिपासा अर्थात् जन्म-जन्मान्तर तक अपनी पाशविक प्रवृत्तियों के साथ जूझते हुए उन्हें वश में लाने की तीव्र इच्छा हो और (ग) अध्यवसाय अर्थात् अनन्त काल तक भी सिद्धि प्राप्ति के लिए बाट जोहने का धैर्य हो।

गुरु के सम्बन्ध में आवश्यक है कि उन्हें (क) शास्त्रों के शब्दजाल नहीं अपितु यथार्थ मर्म ज्ञात हों। वे विविध प्रकार की व्याख्याओं रूपी पेड़-पत्तियों को गिनने के चक्कर में न पड़कर, प्रत्यक्ष बोध रूपी आम खाना जानते हों। (ख) निष्पापता — हृदय-मन की शुद्धता ही आध्यात्मिक उपलब्धि तथा उसका दूसरों में संचार करने का एकमात्र उपाय है। अतः पहले यह जान लेना होगा कि गुरु का चरित्र कैसा है और तदुपरान्त उनके उपदेशों पर ध्यान देना होगा। (ग) सद्हेतु — गुरु को नाम, यश, धन आदि स्वार्थ-साधन के लिए धर्म शिक्षा नहीं देनी चाहिए। केवल मानवजाति के प्रति विशुद्ध प्रेम द्वारा ही वह प्रेरित हो। इन गुणों के अभाव में शिष्य के भीतर उल्टे भाव का संचार हो जाने की भी सम्भावना है।

वैसे ज्ञान तो जगत में सर्वत्र विद्यमान है, पर गुरु ही उसके प्रति हमारी आँखें खोलते हैं। शिष्य के साथ उनका सम्बन्ध पूर्वज-वंशज का-सा होता है। गुरु के प्रति श्रद्धा, नम्रता, विनय व आदर भाव के बिना धर्मभाव अंकुरित नहीं हो सकता। सच्चे गुरुओं की संख्या अल्प है, पर कभी उनका पूर्णतः अभाव नहीं होता।

६. गुरु और अवतार

मानवीय बुद्धि की कल्पना-शक्ति अतीव सीमित है। वह नाम-रूप से निरपेक्ष किसी वस्तु की धारणा नहीं कर सकती, अतः निर्गुण-निराकार ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानने में वह अक्षम है। ईश्वर की हमें मनुष्य रूप में ही धारणा तथा उपासना करनी होगी। मनुष्य की इसी सीमा को समझकर भगवान बारम्बार अवतार लेते हैं और परमगुरु के रूप में धर्म की स्थापना करके जगत को धर्म से प्लावित कर देते हैं। वे गुरुओं के भी गुरु होते है और इच्छा या स्पर्श मात्र से ही लोगों में आध्यात्मिकता का संचार कर सकते हैं।

७. मन्त्र ॐ : शब्द और ज्ञान

सिद्ध गुरु अपने शिष्यों में शब्दरूपी मन्त्रों द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान के बीज सम्प्रेषित करते हैं। मन्त्र के इन्हीं शब्दों पर ध्यान किया जाता है। प्रश्न उठता है कि मन्त्र क्या है? सम्पूर्ण जगत नाम-रूप से बना है। रूप मानो वस्तु का छिलका

है और नाम या भाव है उसका गूदा। मनुष्य के चित्त में विचार-तरंगे पहले 'शब्द' के रूप में उठती हैं और तदुपरान्त अपेक्षाकृत स्थूलतर 'रूप' धारण कर लेती है।

शब्द ब्रह्म या स्फोट ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति का कारण है। ईश्वर पहले स्फोट के रूप में औरफिर विश्व के रूप में परिणत होते हैं। इस स्फोट या नादब्रह्म का एकमात्र वाचक शब्द ॐ है। यही विश्व के समस्त नाम-रूपों का जनक है। ॐ शब्द अ, उ, म — इन तीन अक्षरों से मिलकर बना है और इसका उच्चारण जिह्वामूल से आरम्भ होकर पूरे मुख से होता हुआ ओठों पर जाकर समाप्त होता है। इसमें शब्दोच्चारण की सम्पूर्ण क्रिया सम्पन्न होती है, अतः ॐ तथा स्फोट अभिन्न हैं। यह ईश्वरीय ज्ञान की प्रथम अभिव्यक्ति है, इसलिए यह ईश्वर का सच्चा वाचक है। यह शब्द ऋषियों की गहनतम आध्यात्मिक अनुभूति से प्रकट हुआ है और ईश्वर के ध्यान एवं सत्य ज्ञान में परम सहायक है।

८. प्रतीक और प्रतिमा

प्रतीक शब्द का अर्थ है बाहर की ओर जाना। प्रतीकोपासना का अर्थ है — ब्रह्म के स्थान पर किसी ऐसे वस्तु की उपासना जो कुछ या अधिक अंशों में ब्रह्म के सदृश हो, पर स्वयं ब्रह्म न हो। वेदों में मन, आकाश, सूर्य आदि की प्रतीकोपासना बताई गई है। इसके अतिरिक्त पुराणों व तन्त्रों में भी अनेक प्रतीकों का उल्लेख है। पितर एवं देवों की उपासना भी इसमें सम्मिलित की जा सकती है। परन्तु देव, पितरों या किसी अन्य की नहीं, अपितु एकमात्र ईश्वर की उपासना ही भक्ति कही जाती है। प्रतीक के सहारे सर्वव्यापी ब्रह्म की उपासना अवश्य फलवती होती है। यदि किसी देवता या व्यक्ति को ब्रह्म मानकर उनकी उपासना की जाती है, तो इससे भी ईश्वरोपासना का फल प्राप्त होता है। प्रतिमा या मूर्ति के बारे में भी यही बात सत्य है। यदि कोई प्रतिमा परमेश्वर की सूचक हो, तो उसकी उपासना से हमें शक्ति एवं मुक्ति दोनों की उपलब्धि हो सकती है।

९. इष्टनिष्ठा

ईश्वर के अनन्त नाम और रूप हैं। विभिन्न धर्म तथा उनका सम्प्रदाय उन्हीं प्रभु की महिमा को विविध प्रकार से अभिव्यक्त कर रहे हैं। अतएव संकीर्णता, कट्टरता, एकांगीपन तथा घृणा को प्रश्रय देना उचित नहीं। इष्टनिष्ठा के द्वारा ही लोगों को एक ऐसे आदर्श में शिक्षित किया जा सकता है, जिसमें प्रेम की तीव्रता एवं उदारता — दोनों का ही अपूर्व सामंजस्य हो। भगवत्प्राप्ति के किसी भी मार्ग

से हम घृणा न करें, किसी को भी अस्वीकार न करें, पर साथ ही उदारता के नाम पर भावों में बारम्बार परिवर्तन भी उचित नहीं। आध्यात्मिकता का पौधा जब तक छोटा हो, तब तक उसे चारों ओर से रूँधकर रखना चाहिए। प्रारम्भ में हनुमान के समान यह भाव रखना चाहिए — "यद्यपि परमात्म-दृष्टि से लक्ष्मीपति (विष्णु) तथा सीतापति दोनों एक हैं, तथापि मेरे सर्वस्व तो कमलनयन श्रीराम ही हैं।" इस अनन्यनिष्ठा के द्वारा उन्नति हो जाने पर भक्त देखेगा कि उसके अपने इष्टदेव ही विभिन्न सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न नाम तथा रूप से पूजित हो रहे हैं।

१०. उपाय और साधन

श्री रामानुज ने भक्तियोग में सिद्धि पाने के ये सात साधन बताए हैं — (क) विवेक : इसके अन्तर्गत मुख्यतः खाद्य-अखाद्य पर विचार किया गया है। भोजन तीन प्रकार के दोषों से मुक्त हो (i) जातिदोष : उत्तेजक तथा गरिष्ठ पदार्थों का निषेध (ii) आश्रयदोष : दुराचारी व्यक्ति से न प्राप्त हुआ हो (iii) निमित्तदोष : गन्दा या गन्दी चीजों या व्यक्तियों से स्पृष्ट न हो। शंकराचार्य प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा गृहित किसी भी विषय को आहार कहते हैं। आहार शुद्ध होने से चित्त शुद्ध होकर निरन्तर भगवान की स्मृति बनी रहती है। (ख) विमोक : अर्थात इन्द्रिय-निग्रह। इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोककर अपने वश में रखना। यही धर्म की नींव है। (ग) अभ्यास : आत्मसंयम तथा आत्मत्याग का अभ्यास। सतत प्रयास के द्वारा प्रतिक्षण प्रभु का चिन्तन करते रहना। संगीत इसमें विशेष सहायक है। (घ) क्रिया : पंचमहायज्ञों का प्रतिदिन अनुष्ठान करते रहना चाहिए (i) ऋषियज्ञ अर्थात स्वाध्याय (ii) देवयज्ञ अर्थात उपासना (iii) पितृयज्ञ अर्थात श्राद्धादि (iv) नृयज्ञ अर्थात जनसेवा और (v) भूतयज्ञ अर्थात अन्य जीवों की सेवा। स्वार्थी व्यक्ति ईशस्मरण नहीं कर सकता। (ङ) कल्याण : इसका अर्थ है आन्तरिक पवित्रता। इसकी उपलब्धि के साधन है — (i) सत्य (ii) सरलता (iii) दया व परोपकार (iv) दान (v) अहिंसा अर्थात ईर्ष्या का अभाव और (vi) अनभिद्या अर्थात वृथा लोभ, वृथा चिन्तन तथा दूसरों के आचरण के सतत चिन्तन का त्याग। (च) अनवसाद : अर्थात बल व प्रसन्नता। शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से बलवान व्यक्ति ही साधना में सक्षम हैं तथा उनकी प्रतिक्रिया का वेग भी सह सकते हैं। फिर सर्वदा प्रसन्नचित्त एवं शान्त भी रहना चाहिए। दुखी रहने से ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। (छ) अनुद्धर्ष : अर्थात उल्लास का अभाव। अत्यधिक हास्य-कौतुक हमारी मानसिक शक्ति को क्षीण कर देता है तथा हमें गम्भीर चिन्तन के अयोग्य बना देता है।

पराभक्ति

११. प्रारम्भिक त्याग

प्रतीक, विग्रह, कर्मकाण्ड, नाम-जप आदि समस्त साधनाओं का उद्देश्य आत्मशुद्धि ही है और इन सबमें त्याग ही सर्वश्रेष्ठ है। त्याग के बिना कोई भी पराभक्ति के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता। जड़ पदार्थों की असारता को समझकर उनसे मुख मोड़ लेना ही त्याग है। यही आध्यात्मिक विकास की आधारशिला है। ज्ञानमार्गी का त्याग अत्यन्त कठिन है, परन्तु भक्तियोगी का वैराग्य बड़ा स्वाभाविक है। उसे बलपूर्वक कुछ भी छोड़ना नहीं पड़ता। बस, जैसे सूर्योदय होने पर चाँद-सितारे अपने आप ही म्लान व विलीन हो जाते हैं, वैसे ही ईश्वरानुराग का उदय होने पर बुद्धि तथा इन्द्रियों के सुख स्वतः ही क्रमशः अपनी आभा खोकर लुप्त हो जाते हैं। यही ईश्वरप्रेम क्रमशः वर्धित होता हुआ पराभक्ति में परिणत हो जाता है और तब समस्त बन्धन, सारी सीमाएँ और सकल पराधीनता दूर हो जाती है। वह सार्वभौमिक हो जाता है और तब शास्त्र, प्रतिमा, मन्दिर, सम्प्रदाय, राष्ट्र आदि उसे अपनी सीमा में बद्ध नहीं रख सकते।

१२. भक्त का वैराग्य प्रेमजन्य

प्रकृति में सर्वत्र हमें प्रेम का ही खेल दिखाई पड़ता है। स्वार्थ, काम, शोषण, अपहरण आदि नीच प्रवृत्तियाँ भी प्रेम से ही प्रेरित हैं। और सेवा, भलाई, बलिदान आदि शुभ वृत्तियाँ भी प्रेम से ही विकसित होती हैं। एक में प्रेम को गलत और दूसरे में सही दिशा मिलती है।

भक्तियोग उच्चतर प्रेम का विज्ञान है। इसमें प्रेम को एक नवीन उदात्त मार्ग पर प्रवाहित किया जाता है। परमेश्वर के प्रेम में आसक्त होने पर मन स्वतः ही निम्न विषयों से ऊपर उठ जाता है। अतः सौन्दर्य, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श की अपनी पिपासा को ईश्वर की ओर मोड़ देना चाहिए, क्योंकि समस्त विषय उन्हीं के अंश हैं। पति-पत्नी, माता-पुत्र आदि का आपसी प्रेम उनमें निहित आत्मा के कारण ही होता है। इस प्रकार समस्त आकर्षणों के मूल कारण परम प्रेममय 'हरि' की ओर उन्मुख होना ही भक्त का वैराग्य है। इससे पराभक्ति का द्वार खुल जाता है और फिर प्रतिमा-पूजन या किसी अन्य बाह्य अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रह जाती। समस्त जीवों, सभी महानता और सकल सौन्दर्य के भीतर अपने प्रियतम

को देख पाने पर किसी के प्रति घृणा, क्रोध या ईर्ष्या का भाव भी नहीं जागता।

१३. भक्तियोग की स्वाभाविकता

ज्ञानयोग श्रेष्ठ मार्ग है, पर उसकी साधना बड़ी कठिन है और उसमें पतन की आशंका बनी रहती है। भक्तियोग सहज है और उसका रहस्य है धीरे-धीरे अपने समस्त भावों तथा वासनाओं को वश में लाकर उन्हें उच्च दिशा में प्रेरित करना। सांसारिक अभावों के चलते दुःख करना अपनी भावनाओं को गलत दिशा में ले जाना है, परन्तु परमात्मा के अभाव का दुःखबोध मुक्ति का हेतु बन जाता है। धनाढ्य होने का नहीं, अपितु ईश्वर-चिन्तन में ही आनन्द मनाना उचित है। अतएव कोई भी सुख-दुख की भावना बुरी नहीं है; बस, उसे ईश्वर की ओर मोड़ देना है।

१४. उसकी अभिव्यक्ति के रूप

भक्ति निम्न रूपों में अभिव्यक्त होती है — (क) श्रद्धा : इसका मूल प्रेम है। तीर्थों-मन्दिरों के प्रति श्रद्धा इसलिए होती है कि वहाँ भगवान पूजित होते हैं। सन्तों एवं आचार्यों के प्रति श्रद्धा होने का कारण यह है कि वे भगवान की महिमा का उपदेश देते हैं। (ख) प्रीति : अर्थात ईश्वर के स्मरण में आनन्द। जैसा इन्द्रियों के विषयों से तीव्र आनन्द का बोध होता है, वैसा ही ईश्वर के प्रति प्रेम से भी होता है। (ग) विरह : प्रेमास्पद के अभाव से उत्पन्न होनेवाला दुःख संसार के सभी दुःखों में मधुरतम है। जब मनुष्य भगवान को न पा सकने के कारण तीव्र वेदना का अनुभव करता है, पागलवत हो जाता है, तो उसे विरह कहते हैं। जो लोग प्रभु की चर्चा करते हैं, वे ही भक्त को परमप्रिय लगते हैं। भगवान के बिना उसके लिए क्षण भर भी जीना दूभर हो जाता है। वह सम्पूर्ण जगत को उन्हीं का समझकर इससे प्रेम करता है।

१५. विश्वप्रेम और शरणागति

समष्टि विश्व की अखण्ड धारणा ही ईश्वर है और व्यष्टि या पृथक-पृथक देखने पर वही संसार है। इस समष्टि-रूपी ईश्वर के माध्यम से ही सम्पूर्ण विश्व से प्रेम करना सम्भव है, क्योंकि सब कुछ उन्हीं के अंश तथा अभिव्यक्तियाँ हैं। तब 'सर्वभूतमयं हरिम्' देखकर सबके प्रति प्रेमभाव का उदय होता है। इस सर्वग्राही प्रेम के फलस्वरूप पूर्ण आत्मसमर्पण की उपलब्धि होती है, जिसे अप्रातिकूल्य भी कहते हैं। ऐसा भक्त सुख-दुख, जीवन-मरण दोनों का समान रूप से स्वागत करता

है, क्योंकि दोनों उसके परमप्रिय प्रभु के पास से ही आते हैं। दुःख-कष्टों में वह विचलित नहीं होता। उसके लिए अपनी इच्छा या क्रिया नहीं रह जाती। सर्वभूतों की सेवा ही उसे इस नश्वर जीवन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग प्रतीत होता है। इस परम शरणागति की अवस्था में आसक्तियाँ समूल नष्ट हो जाती हैं और प्रेमात्मिका भक्ति समस्त बन्धनों को विच्छिन्न कर देती है।

१६. पराविद्या और पराभक्ति

उपनिषद में समस्त धर्मग्रन्थों तथा लौकिक शास्त्रों को अपरा विद्या कहा गया है और परा विद्या स्पष्टतः ब्रह्मज्ञान है। देवी भागवत में 'तैलधारावत् अविच्छिन्न भगवच्चिन्तन' को पराभक्ति बताया गया है, जो मानव-हृदय में भगवत्प्रेम की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है, अन्य सभी प्रकार की भक्ति रागानुगा भक्ति के सोपान मात्र हैं। इस निरन्तर स्मरण के फलस्वरूप जब आत्मा पवित्रता के अभेद्य कवच से रक्षित हो जाती है तथा समस्त बन्धनों से मुक्त एवं शान्त हो जाती है, तब भक्त अपने हृदय में ही भगवान की उपासना कर सकता है और उसे अन्य किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसी उपासना कठिन व दुर्लभ है। सच्चे भक्त के लिए पराविद्या और पराभक्ति एक हो जाते हैं।

१७. प्रेम का त्रिभुज

प्रेम के मूल तत्त्वों का एक त्रिभुज बनाया जा सकता है, जिसका प्रत्येक कोण उसका एक एक अविभाज्य गुण है। इसका पहला कोण है — प्रेम में किसी प्रकार का क्रय-विक्रय जैसा नहीं होता अर्थात भगवान से कुछ भी प्रतिदान की आशा रखे बिना, केवल उन्हें प्रेमास्पद समझकर ही उनसे प्रेम करना। भिखारी की भाँति कुछ पाने के लिए प्रेम करना अधम उपासना है। अतः प्रेम के बदले में कुछ भी न माँगों, सदैव देते रहो। इसका दूसरा कोण है — प्रेम पूर्णतः भयरहित होता है। दण्ड के भय से ईश्वर की उपासना सबसे निकृष्ट है। मनुष्य क्षुद्रता एवं स्वार्थपरता के कारण ही भयभीत होता है। सच्चा प्रेम भय पर विजय प्राप्त कर लेता है। तीसरा कोण यह है — प्रेम में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं होती, क्योंकि प्रेम में ही प्रेमी का सर्वोच्च आदर्श रूपायित होता है। ईश्वर ही प्रत्येक व्यक्ति का सर्वोच्च आदर्श है। सौन्दर्य, उदात्तता एवं शक्ति के उच्चतम आदर्शों के योग में ही हमें प्रेममय तथा प्रेमास्पद ईश्वर का पूर्णतम भाव मिल सकता है।

सैकड़ों जन्म तथा हजारों वर्ष तक संघर्ष करने के बाद जब मनुष्य की समझ

में आ जाता है कि उसका अन्तःस्थ आदर्श बाह्य परिवेश तथा अवस्थाओं के साथ मेल नहीं रख सकता, तब वह जगत को अपने आदर्श के अनुरूप गढ़ने का प्रयास छोड़कर अपने आदर्श की ही उपासना में लग जाता है। यह पूर्ण आदर्श अन्य सब छोटे-छोटे आदर्शों को अपने आप में समाहित कर लेता है।

१८. प्रेममय ईश्वर का प्रमाण

पराभक्ति की उपलब्धि के बाद इस सतत विस्तारशील अन्तःस्थ आदर्श को विकसित करने में बाह्य वस्तुएँ क्रमशः अनुपयुक्त सिद्ध होने लगती है। और एक-एक करके उनका परित्याग हो जाता है। अन्त में साधक समझ जाता है कि ये बाह्य साधन आदर्श की तुलना में अत्यन्त तुच्छ हैं और उनके द्वारा आदर्श की उपलब्धि का प्रयास निरर्थक है। तब वह सर्वोच्च तथा पूर्ण निरपेक्ष भावमय सूक्ष्म आदर्श को अपने अन्तर में सजीव एवं सत्य रूप में अनुभव करने की क्षमता अर्जित कर लेता है। तब उसके मन में यह तर्क-वितर्क नहीं उठता कि भगवान का अस्तित्व है या नहीं, कि वे सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान हैं या नहीं। उसके लिए तो भगवान बस प्रेममय तथा प्रेम के सर्वोच्च आदर्श रह जाते हैं और यह बोध ही उसके लिए यथेष्ट है।

स्वार्थपरता भी प्रेम का ही एक निकृष्ट रूप है। स्वयं को तुच्छ समझने से हमारा प्रेम भी संकीर्ण तथा सीमित हो जाता है। भक्त का भाव यह हो कि संसार की सभी वस्तुएँ भगवान से ही निकली हैं, अतः सभी मेरे प्रेम के योग्य पात्र हैं। पराभक्ति हो जाने वह उन्हें मन्दिर के भीतर भी देखता है और बाहर भी, साधु में भी देखता है और दुष्ट में भी, क्योंकि महामहिम प्रभु सदैव उसके हृदय-सिंहासन पर विराजमान और एक सर्वशक्तिमय अनिर्वाण प्रेमज्योति के रूप में दीप्तिमान हैं।

१९. दिव्य प्रेम की मानवीय अभिव्यक्ति

प्रेम की सर्वोच्च धारणा को मानवीय भाषा में व्यक्त करना असम्भव है, उच्चतम कल्पना भी उसका अनुभव करने में असमर्थ है, तो भी प्रत्येक देश तथा काल में उपासकों को इस उच्च आदर्श की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के लिए अपूर्ण मानवीय भावों व भाषा का ही आश्रय लेना पड़ा है, क्योंकि वह पूर्ण निरपेक्ष ब्रह्म हमारे लिए सापेक्ष भाषा में ही व्यक्त हो सकता है। पराभक्ति के व्याख्याताओं ने मानवीय भाषा में उस दिव्य प्रेम को विविध प्रकार से समझने तथा अनुभव करने का प्रयास किया है, जिनमें से मुख्य इस प्रकार हैं —

(क) शान्त भाव : प्रेम की निम्नतम अवस्था है। जब भक्त के हृदय में प्रेमाग्नि तथा प्रेमोन्मत्तता का अभाव होता है, तथापि उसमें बाह्य अनुष्ठानों से उन्नत एक साधारण-सा प्रेम होता है, तब वह शान्त भक्ति कहलाता है। ऐसा भक्त धीर, शान्त एवं नम्र होता है और वह धीरे-धीरे प्रगति पथ पर बढ़ता है।

(ख) दास्य भाव : उससे किंचित उच्च अवस्था है। इसमें व्यक्ति स्वयं को ईश्वर का दास समझता है और विश्वस्त सेवक की भाँति प्रभु में अनन्य निष्ठा रखता है।

(ग) सख्य प्रेम : का स्थान इसके बाद आता है। इसमें मित्र की भाँति ईश्वर के प्रति समानता का भाव होता है और वह उनके समक्ष अपना हृदय खोल देता है। वह जानता है कि मित्र उसके अवगुणों पर ध्यान न देकर उसकी सहायता करेगा। भक्त संसार को भगवान की लीला तथा एक सुन्दर खेल समझता है। वह मानो भगवान को संगी बनाकर इस अद्‌भुत खेल में भाग ले रहा है।

(घ) वात्सल्य प्रेम : पिछले से उत्तम है। इसमें भगवान का चिन्तन सन्तान के रूप में किया जाता है। भगवान की परिकल्पना के साथ ऐश्वर्य तथा भय की भावना जुड़ी हुई है। इस भयोत्पादक ऐश्वर्य की भावना को दूर करने के लिए उनमें वात्सल्य भाव लाया जाता है। अपने बच्चे से न तो कोई डरता है और न ही याचना करता है, बल्कि वह उसी पर हजारों जीवन न्यौछावर करने को प्रस्तुत रहता है। इसी प्रकार भगवान से भी वात्सल्य प्रेम किया जाता है।

(ङ) मधुर प्रेम : यह समस्त भावों में श्रेष्ठतम है। पुरूष-स्त्री के बीच होनेवाला यह प्रेम व्यक्ति को पागल तक बना देना, दैत्य अथवा देवता में परिणत कर देता है। इसमें भगवान को एकमात्र पुरुष और अपने को तथा अन्य सभी को स्त्री समझते हैं। फिर उनका पति के रूप में चिन्तन किया जाता है।

अज्ञानवश हम अपनी प्रेम-सरिता को संसार के छोटे-छोटे पुतलों की ओर बहाते हैं और उसका फल होता है — दुःख; इसे समुद्ररूपी ईश्वर की ओर बहाना होगा। अपनी समस्त भावनाओं को उन्हीं की ओर मोड़ दो — क्रोध करना है तो उन्हीं पर करो, उलाहना देना हो तो उन्हीं को दो। छोटे-छोटे मिट्टी के लौदों में भला क्या आनन्द हो सकता है? भगवान ही अनन्त आनन्द के घनीभूत सार है, अतः उन्हीं को ढूँढो। हमारी अधोगामी प्रवृत्तियाँ भी उनकी ओर उन्मुख होकर दिव्यता में परिणत हो जाती है। उनके सिवा भला हमारा अन्य कौन प्रेमपात्र हो सकता है। वे ही हमारे पति हों, हमारे प्रेमास्पद हों। फिर भगवान जब एक बार अपना

अधारमृत देकर हमें कृतार्थ करते हैं, तो सारी प्रकृति बिल्कुल ही बदल जाती है। सूर्य-चन्द्र तथा विश्व-ब्रह्माण्ड सब एक बिन्दु के समान प्रेम के उस अनन्त सिन्धु में न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं। प्रेमोन्माद की यही पराकाष्ठा है।

परन्तु सच्चा भगवत्प्रेमी इस पति-पत्नी के बीच की प्रेमोन्मत्तता से भी सन्तुष्ट नहीं होता। वह अवैध या परकीय प्रेमभाव का आश्रय ग्रहण करता है। क्योंकि इस प्रेम के मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं, जिसके फलस्वरूप यह प्रेम उत्तरोत्तर प्रबल तथा उग्र रूप धारण करता जाता है। श्रीकृष्ण की बाँसुरी सुनते ही गोपिकाएँ पति-पुत्र आदि सब विसारकर उन्मत्तवत दौड़ पड़ती थीं। यही है भक्त की मनःस्थिति का मानवीय भाषा में वर्णन करने का प्रयास। परन्तु मन से सांसारिक वस्तुओं की कामना गए बिना मनुष्य इसका अधिकारी नहीं हो सकता। इस प्रसंग में स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है, "कृष्ण अवतार का मुख्य हेतु इसी गोपी-प्रेम की शिक्षा है, यहाँ तक कि गीता का महान दर्शन भी इस प्रेमोन्मत्तता की बराबरी नहीं कर सकता।"

२०. उपसंहार

प्रेम के उच्चतम आदर्श की उपलब्धि हो जाने पर ज्ञान, मुक्ति, उद्धार, निर्वाण आदि बातें लुप्त हो जाती हैं। तब भक्त कहता है — प्रभो, मुझे शक्कर खाना अच्छा लगता है, शक्कर होना नहीं। प्रेम के लिए प्रेम ही भक्त का सर्वोच्च सुख है। प्रेम को छोड़ वह और कुछ नहीं चाहता, सदैव प्रेम में ही उन्मत्त रहना चाहता है।

इस प्रकार भक्तियोग का आरम्भ द्वैतभाव से होता है। इसमें भक्त और भगवान दो होते हैं और बीच में प्रेम आ जाता है। तदुपरान्त भक्त अपनी समस्त मानवीय भावनाओं को भगवान में ही आरोपित करते हुए उनके अधिकाधिक निकट पहुँचता जाता है, आत्मीय जनों तथा सबमें उन्हीं का रूप देखने लगता है और अन्ततः अपने उपास्य में ही पूर्णतः निमग्न हो जाता है। सर्वप्रथम हममें स्वयं के प्रति ही प्रेम रहता है, पर अन्त में ज्ञान्त-ज्योति का भरपूर प्रकाश पाकर वह क्षुद्र अहं अनन्त सच्चिदानन्द के साथ एकरूप हो जाता है। और तब उसे बोध होता है कि प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पद तीनों एक ही है। ईश्वरप्राप्ति का यही मार्ग सर्वाधिक सहज, सुगम एवं स्वाभाविक है और जनसाधारण के लिए यही युगधर्म है।

□